Aspects of Jainology:
Vol. I

LALA HARJAS RAI
COMMEMORATION VOLUME

Edited by
PROF. SAGARMAL JAIN

P. V. RESEARCH INSTITUTE
VARANASI-5
लाला हरजसराय स्मृतिग्रन्थ

पार्श्वनाथ विद्याध्रम शोध संस्थान
वाराणसी-२
प्रकाशक :
पाथवंताय विद्याध्यम श्रोत संस्थान
आई. टी. आई. रोड, बी. एच. यू.
वाराणसी-५
फोन : ६६७६२

संस्करण : प्रथम १९८७
मूल्य : रू १००.००
प्रकाशकीय

पार्श्वनाथ विद्याधर्म शोध-संस्थान के इतिहास में उसके संस्थापक, निर्माता और संरक्षक के रूप में वर्तमान लाला हरजसराय जी का नाम स्वर्णिम अक्षरों में अद्वैत किया जायेगा। यदि विद्याधर्म के अकादमी रूपकार का श्रेय पितृदत्त मुखलाल जी संघर्षी के हैं तो उसे मुर्तमुख देना का श्रेय निस्संदेह वर्तमान लाला जी को ही है। लाला हरजसरायजी की जीवन शैली की विशिष्टता उनकी निष्काम समाज सेवा में है। इस यह कह सकते हैं कि लाला जी ने एक सार्थक जीवन जिया।

देवा, समाज और वर्ष के लिए उनका सारा जीवन समस्यित रहा। उद्द यशोर का यह कथन उन पर वर्तमान होता है—

इसीन्द्री को सिखाने दुनिया में बनाया कामयाब।
जिन्दगी उसकी है, 'दानिश' उसका जीना है सफल।
इस के दुनिया में मरा और कोई रोके मरा।
जिन्दगी पाई भगवान उसने जो कुछ होके मरा।

उनकी दुनिया परम्परागत विद्याधर्म रूपी इस ज्ञानमंदिर का कल्याण बनने की अपेक्षा नीचा का पत्थर बनना ही पसंद किया। यही कारण था कि वे नितान्त मूकमाहव से समाजित होकर 40 वर्ष तक करन तथा रूप से संस्था का कार्य करते रहे। वस्तुतः पार्श्वनाथ विद्याधर्म आज जो कुछ है वह उनकी सेवा निष्ठा और उनके सदृशासनों का ही परिणाम है। फिर भी उन्होंने इस साह ठी समय जैन समाज का चरोहर माना। वर्षमा 40 वर्षों तक मन्‌त्री के रूप में उन्होंने नितान्त मूकमाहव से संस्था की सेवा की, फिर भी यशोर और अपने नाम के प्रचार-प्रसार की कामना से वे समय मृत्युप्रीत रहे।

मरना जीना एक है, जिनको जरा भी जान है।

वह उद्द यशोर का मर्मांक, यह इहर की शान है।

बैठे हैं वह उके जीवन की अनेक विश्वास?ंिवं यह समस्याओं हैं, किन्तु समाजसेवा के क्षेत्र में जिन्दगी निर्माल एवं निर्वाद छवि वर्तमान लाला जी की रही, वह आज के सेवा में सदृश है। लाला जी के मन में भी कमी उन यह विचार नहीं आया कि कोई उनकी सेवा का ध्यानित मूल्यांकन करे। जब तक वे वीर्य रूप में समृद्ध किसी में साहस भी नहीं था कि उनके समक्ष इस प्रकार का प्रस्ताव रख सके, अनधिक बना अपने जीवनकाल में उन्होंने संस्था में अपना चित्र भी नहीं उगाने दिया। यदि उनकी अस्वस्थता की दशा में बैठे हैं उनके समाज में अभिनवन ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना बनायी, किन्तु दुर्भाग्यवश हम उनके जीवन काल में इसे साकार नहीं कर सके।

आज उनके स्वर्गवास के पश्चात उनकी स्मृति में इस प्रत्य का प्रकाशन कर रहे हैं।

पार्श्वनाथ विद्याधर्म शोध संस्थान की बहुत दिनों से योजना थी कि वह जैन विद्या के वर्तमान शोध-शैक्षिक कार्यक्रमों एवं जैन विद्या के
शीर्षस्थ विद्वानों को समर्पित करें किन्तु अभाव के अधिकांश पाठकों के शिक्षाविद्या, स्तंभात लेखों के 
अभाव एवं आधिकारिक कारणों से ऐसा निर्मित प्रकाशन सम्भव नहीं हो सका। अतः हमने ‘जैन विद्या 
के आयाम’ (Aspects of Jainology) शीर्षक के रूप में एक प्रावधान प्रकाशित कर उसका ‘प्रथम 
पुस्तिका’ संस्थान के संस्थापक लाला जी की पुनर्प्रस्तुति में अपित बनाया। अपनी 
योजना को मूलभुत देने हेतु हमने जैनविद्या के विद्वानों से लेख आमंत्रित किये। विद्वानों ने अतीत 
उस्तादपुर्क अपने लेख भेजकर हमें जो सहयोग प्रदान किया हम उसके लिए उनके आभारी हैं। 
ग्रन्थ के प्रारंभ में लाला जी के अन्वेषण और उत्तिस्त पर कुछ लेख हैं, उसके पश्चात अंग्रेजी और 
हिन्दी भाषा में जैन विद्या से सम्बलित लेख हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का संपूर्ण आधिकारिक भार पूज्य लाला जी को सम्मान में स्थापित बैरिक- 
टेबल ट्रस्ट द्वारा विकास किया गया अतः हम उस ट्रस्ट के ट्रस्टी यां के भी आभारी हैं।

इस ग्रन्थ का मुद्रण-कार्र्य रत्ना प्रेस, वाराणसी ने की हैं। यह शीर्ष ही सम्पूर्ण था जिसके लिए हम 
उनके प्रति कुलकर्ता आशीर्वाद करते हैं।

प्रो॰ सागरमल जैन 
निदेशक
विषय-सूची

**BIOGRAPHY**

1. सागरमल जैन, उवेशचन्द्र सिंह : वश्निलिंग जैनविद्या के निधारक नेवेक
   बाबू हरजसराय जी जैन : व्यक्तिव एवं कृतिव 1

2. दलमुखभाई मालवणिया : सत्संग कार्यक्तव लाला श्री हरजसराय जी
3. गुलाबचन्द्र जैन : बाबू हरजसराय जी : एक प्रामाणिक व्यक्तिव
4. हरीशचन्द्र जैन : श्री हरजसराय जैन : एक समर्पित व्यक्तिव
5. S. L. Khanna : Lala Harjas Rai : Life and Ideals

**ENGLISH SECTION**

7. Vilas A. Sangave : Jaina Tradition of Tīrthaṅkaras 19
8. L. K. L. Srivastava : Contemporary Relevance of Triratna Ideal of Jainism 25
9. N. K. Singh : Jainas Concept of Substance 30
11. Sagarmal Jain : The Philosophical Foundation of Religious Tolerance in Jainism 43
12. Jagdish Sahai : Religion of Man 57

**Hindi Section**

13. के० भार० चन्द्र : बिशेषावस्थक्षण के पाठांतरी, उत्कृष्ट प्राचीन अभिलेखों और इतिहासियाँ की भाषा के परिवेश में प्राचीन भागम ग्रन्थों का सम्पादन 65
14. अनुपम जैन : जैन भागमों में निर्दिष्ट गणितीय अध्ययन हुरेशचन्द्र अप्रवाल के विषय 75
15. सागरमल जैन : जैनचरू में नेतिक और धार्मिक कर्त्तव्य का स्वरूप 89
16. प्रेम सुमन जैन : अप्रकाशित प्राकृत शतकन्त्र : एक परिचय 93
17. रीता विनोई : पाण्डव पुराण में राजनीतिक स्थिति 99
18. ईश्वर दयाल : जैन निर्वाण : परम्परा और परिवृत्त 107
19. विश्वनाथ पाठक : व्याख्यातिक जीवन में नाम, रूप, स्थापना और प्रतीक 116
20. काजी अन्नजुम सेफ़ी : दसाहकर और नाथकमण्ड में रस स्वरूप एवं निष्पादित : एक तुलनात्मक विवेचन 123
21. माण्डलन्दन प्रसाद तिवारी : वस्तुचन्द्र का पावनताय मन्दिर : ब्राह्मण एवं जैन धर्मों के समन्वय का मूल्यप रेक्रिय programmes

144
पार्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निर्माता

स्व. श्री हरजसराय जी जैन

जन्म : १३/०६/१९९६
स्वर्गवास : १८/०६/१९८६
Entrance to the Research-cum-Administrative Block.

A View of the Library.

Women's Hostel Block for the P.V. Research Institute.
ब्यक्तितत्व परिचय

BIOGRAPHY
यश निर्लिप्त जैनविद्या के निष्काम सेवक बाबू हरजसराय जी हेंगः निवित्त्व एवं कृतित्व
—सागरमल जैन
—उमेश चन्द्र लिह्ह
सागरमल जैन

शिक्षा के प्रारंभिक स्तर में ही उनके व्यक्तित्व की प्रढ़िंता को देखकर यह उन्हें सहज ही याद आती है—"होन्हार विद्यार्थी, के होत चीनके पात"। अध्ययन काल में उन्हें एक नियमित एवं अनु- शासित जीवन अथवा प्रिय था। कालेज जाने से पूर्व प्रातःकाल उठकर कर्म चरी करते तथा बिस्तर, मेज, कुर्सी एवं कर्मर की समस्त वस्तुओं को सुचारू स्थिर करते थे। अध्यवसाय हेतु उनका निर्बाचित समय था, जिसमें सामायमता परिवर्तन सम्बंध न था। अनावश्यक समय की वस्तु के अन्दर एवं अवस्थित वातावरण उन्हें प्रिय न थे। उनके सहारण तथा परिचित छात्र उनकी नियमित दिनचर्या, सहज स्वभाव, साक-मुखर एवं प्रसन्नता व्यक्तित्व के कारण उन्हें बहुत पसंद करते थे। कदमांत ही कोई दिन ऐसा बीता हो, जिस दिन सुबह एवं शाम की प्रात्येक में उन्होंने व्यतिक्रम आने दिया हो। अमृतसर से मैद्रिक तक की शिक्षा पूर्ण करने के बाद उन्होंने १९१५ में लाहौर के गवर्नमेंट कालेज से इतरमीडियेट स्तर की शिक्षा प्राप्त की, जहाँ वे साहित्य के विद्वानों ने। अपने जीवन के प्रारंभिक काल से ही वे बॉर्डर: शाक्तार्थी। इसी काल तक वे एक पुत्र के पिता से बन चुके थे। लेकिन उन्होंने अध्ययन में जीवां में नहीं आने दी। कहाँ के अध्ययन पर सार्वजनिक व्यवस्था १९१७ से आया। उनका जीवन एवं पर्यावरण काफ़ी अच्छा था, उसका जमकर अभ्यास करते थे।

इसके बतौर तैराकी, बीटिंग एवं स्कूलिंग के बारे में भी उनकी पर्यावरण रत्न थी।

इसी अनुक्रम में लाहौर ने १९१७ में इतरमीडियेट की परीक्षा उत्तीर्ण करके स्नातक बनने के लिए लाहौर के गवर्नमेंट कालेज में प्रवेश दिया। सन् १९१९-२० तक उन्होंने स्नातक की शिक्षा पूर्ण की। इस काल में भी उन्होंने जीवन-चर्चा के लिए निर्दिष्ट सिद्धांतों के लिए कृतिक्रम पूरी की थी, जिसके लिए वे जीवन पर्यावरण में संघर्ष कर रहे थे।

राज्यसरकार से उनके नस-नस में समाय नहीं थी, जिसके लिए वे विद्वानों में जीवन से ही बादी बस्तियों की धरार करते थे और धार्मिक तथा सामाजिक कृतियों को दूर कर राजनैतिक जैतन्तिक लागे के लिए सोचते रहते थे। जिस समय वे अपना अध्ययन पूर्ण कर रहे थे, उन समय महात्मा गांधीजी के आदेश पर देश के कोने-कोने में सामाजिक, आधिक ठाकुर, धार्मिक एवं राजनैतिक अनावश्यकता का पर्याप्त कर लेकर जनकोश जागृत हो रहा था। रांगनाथ चेतना को जागृत करने के लिए विदेशी वस्तुओं को बहुमुख रूप से वस्तुओं के उपयोग पर जोर दिया जा रहा था। इस सबका व्यापक प्रभाव लागू हो पड़ता स्वाभाविक था जिसके फलस्वरूप उन्होंने एक राजनैतिक रूप में अपने आपको समर्पित कर दिया। खुदूर तो वे पहले से ही धारण करते थे। रांगनाथ की बेतलाहे हेतु वे शिक्षा को आधारस्ता मानते थे। इस सन्दर्भ में उनको मान्यता थी कि शिक्षा ही वह तत्कालीन है, जो यथिका को संस्कार समाप्त करने के साथ राज्यसरकार के उद्देश्य में अपना मूल्य मानना सकती है। शिक्षा के महत्त्व को हदसंग्रह करते हुए, उन्होंने राज्यसरकार शिक्षा पद्धति को विकसित करने के लिए सन् १९२३ में अमृतसर में धौराम आधार एवं स्कूल की आदर-शिक्षा रखी। नागरिकों की शिक्षा की विकसित करने के प्रति वे कितने स्वेदनशील थे, इसका आधार धौराम आधार एवं स्कूल में है। अब किसी की गई सहस्तिका से हो जाता है। वे मानते थे कि समाज में धार्मिक अंत्यिस्थान एवं कृतियों को खड़े से मिटाने के लिए पुलिस एवं स्की दोनों को विकसित करना अवश्यक है, और यह शिक्षा व्यवस्था साइट-साइट सम्प्रभु हो तो इसके पद प्रस्थाल हो सकते हैं। एक तो यह कि दोनों को एक-दूसरे को समझने का अवसर
मिल सकता है तथा दूसरे—उन्हें अपने बीच विविध असमानताओं को कम करते हुए राष्ट्रीय धारा में कल्याण का मिलाकर चलने का साहस प्राप्त हो सकता है। इसीलिए वे इस स्कूल की स्थापना काल से लेकर सन् 1936 तक सक्रिय रूप से इसके संचालन में लगे रहे, जब तक कि उनका परिवार स्थायी रूप से फरीदाबाद आकर वस नहीं गया।

शिक्षा और साहित्य के प्रति कालांतर में उनकी हक्कां और प्रवृत्त हो गयी, जब उन्होंने यह चिन्तन किया कि प्राचीन जैनधर्म, दर्शन एवं साहित्य के विविध पहलुओं का गम्भीर अध्ययन किया जाना चाहिए। जब इस हेतु उन्होंने अपने मित्रों से परामर्श करके 1925 ईसी में सोलहवाल जैनविद्या प्रारंभ समिति, अमृतसर की स्थापना की। पुनःजज जैनविद्या के अध्ययन एवं शोध के विस्तृत आयामों को दृष्टिगत रखते हुए भगवानु पार्श्वनाथ की पुनीत जननवदी काली में सन् 1937 में पार्श्वनाथ विद्याध्याम शोध संस्थान की स्थापना की तथा जीवन पर्याप्त प्राप्त प्राप्त प्राप्त रूप से इसका विविध रूप संचालन करते रहे।

जैनविद्या एवं प्रारंभ भाषाओं के बिकास में उनकी पर्याप्त श्रेष्ठ थी। अपनी शैक्षिक प्रवृत्ति के कारण ही जहाँ उन्होंने इन दोनों शिक्षा-संस्थाओं के संस्थापक बनने का गोरख प्राप्त किया, वहाँ शताब्दीय रतनचन्द्र जी म० साद द्वारा तैयार किये गये अर्थशास्त्रीकोश के निर्माण में भी योगदान दिया। इस कार्य में उन्होंने मुनि जी को प्राकृत भाषाओं के अंग्रेजी पर्यायों का तत्कालीन अभिव्यक्ति किया।

उन्होंने न केवल शिक्षा के माध्यम से ही राष्ट्र को योगदान दिया, अपनी सक्रिय रूप से राजनीति में भी हिस्सा किया। 1929 ईसी की लाहौर कांग्रेस जिसके द्वारा राष्ट्रीय विरोध को सम्पूर्ण आजादी का नारा दिया गया था, में उन्होंने एक स्वयंसेवक बनकर सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में कार्य किया। उनका जीवन प्रारंभ से ही सामाजिक वंचना के लिए समर्पित रहा है। इस परिप्रेक्ष्य में संघ राष्ट्र के लिए संघर्ष के कुछ पहल तिथियों में, जिससे ज्ञात होता है कि वे अपने जीवन के प्रारंभिक काल से ही सामाजिक प्रवृत्तियों में प्रयास श्रेष्ठ थे। सन् 1937 में उनका सामाजिक सुवर्ण का लेकर भी आजादी गुरुवार से जो कि उस समय 'अखिल भारतीय जैनसंघ सुवर्ण-समिति' के सचिव थे, पर्याय पत्र-व्यवहार हुआ।

स्काउट के क्षेत्र में उनकी श्रेष्ठ बिद्यार्थी जीवन में ही हो गयी थी। उनमें स्काउट की सेवा भावना का वीज जीवन के प्रारंभ में ही अंकृतित हो चुका था, जो निरंतर पुष्टित एवं पत्तलित होता रहा। स्काउटिंग के प्रति अपनी विविध अभिव्यक्ति के कारण ही वे अमृतसर स्काउट एसोसियेशन के सदस्य बने। वे 1933 में अजमेर के स्थाननवाले जैन साधु-सम्मेलन में सममिलित हुए थे और उन्होंने उस सम्मेलन में अपना स्वतंत्र चित्रण अवक ग्रहित किया। प्रमुख स्वतंत्रता सेनानी एवं सम्पूर्ण कार्यत के प्रयोग श्री जयलक्ष्मा नारायण जी भी उनका निकटतम सम्प्रदाय रहा। समाज सेवा के कार्यों के सम्बन्ध हेतु उन्हें अपने पर्याप्त आधिक सहायता भी प्रदान की।

साहित्य के साथ-साथ ज्ञोत्पत के क्षेत्र में भी उनकी श्रेष्ठ उल्लेखनीय थी। पृथ्वी सोहनलाल जी म० साद ने जो जैन वंचांग वनवाय था, उसके सभी अंगों का न केवल उन्हें शान था, अपितु समाज में मान्यता प्राप्त करवाने के लिए उन्होंने अथवा प्रयास किया था। यद्यपि यह जुलूक के साथ
सागरमल जैन

लिखना पड़ रहा है कि पूर्व श्री सोहनलाल जी मोंसौं के स्वर्गवास के पत्रों में आगे कोई प्रमाण न हो सके।

लालाजी का सामाजिक चित्तन तकी भाषक और उचाई था। वे नितान्त परमपरागत नहीं थे। वे खिलाते हैं कि "यदि कोई व्यक्ति सामाजिक नियम के विरुद्ध किसी ऐसी रूपना या पुरुष से सम्बन्ध जोड़ ले, जिसे समाज में महापाप समझा जाता है। वे प्रदर्शन करते हैं कि क्या यह पाप है? क्या ऐसा करना नरकगामी होने के लिए पर्याप्त है? सामाजिक वृद्धि के यथार्थ ऐसा करना पाप समझा जाता है और इसे अनुशिष्ट माना भी जाना चाहिए; फिर भी उनकी वृद्धि में पाप और पुरुष की यह व्याख्या देश और काल साधारण है। वे शास्त्रीय उदाहरण देते हुए कहते हैं कि यौगिक काल में भाई-भत्त परस्पर दाम्पत्य जीवन वितरित थे, किन्तु वे नरक न जाते थे और न उन्हें पापी ही माना जाता था। वस्तुतः उनकी वृद्धि में पाप-पुरुष का आधार कोई क्रिया या आचार का नियम निरोधित नहीं था, अपने व्यक्ति की दृष्टि में दृष्टि-पुरुष का असम्य या संयुक्त की भावना है।"

वे आगे खिलाते हैं कि "संयम मनुष्य-जीवन का अटल और सर्वाधिक नियम है। अतः यदि मनुष्य संयम का पालन नहीं करता, तो उसकी यह क्रिया पाप बन जाती है और यदि संयम का पालन करता है तो वहीं क्रिया पुरुष बन जाती है। वस्तुतः पुरुष और पाप मनुष्य की जीवन-वृद्धि पर निर्भर हैं। सामाजिक अनुष्ठान के नियमों के अनुसार कोई विवाहित महालय, विवाह-वासना-पूर्ण दाम्पत्य जीवन व्यतीत करता है और उसे तुरंत नहीं समझा जाता है। इसके विपरीत सामाजिक नियमों के प्रति यदि कोई युगल संयम-पूर्ण दाम्पत्य-जीवन वितरित है, तो उसे तुरंत समझा जाता है। किन्तु विचार करना चाहिए कि सम्बोध की क्रिया तो दोनों में एक ही है और उसका पल्ला भी एक ही है। अतः तो यह चाहिए कि जो वासनात्मा है, असंयम है, उसे पापी माना जाय और जो संयम है, उसे पुष्पात्मा माना जाय।"

वस्तुतः व्यक्ति की जीवन का मुख्य आधार संयम को कार्य रूप में परिणामित करने के लिए है। संयम के लिए हो समाज, धर्म और विवाह की व्यवस्था हुई है। व्यवहारिक जीवन पूर्ण संयम तक पहुंचने के लिए रखा गया अंकुर है। अतः गृहस्त जीवन में यदि पति-पत्नी में संयम है तो वे साधारण हैं और इसीलिए गृहस्त जीवन में यथार्थ उन्हें उठाने की सम्भावना नहीं है। वह स्वयं उनका गठन का सम्पूर्ण अवसर है और पूर्ण संयम को दिखा बदल उठा एक कदम है। वस्तुतः व्यक्ति के जीवन को कोई नारकीय बनाता है, तो वह हैं—विलासिता, स्वार्थपरता एवं उदासीन काम-वासना, न कि पारिवारिक जीवन। पारिवारिक जीवन तो संयम की साधना का एक सुन्दर अवसर है।

पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में लालाजी करते सारे हैं, इसका भी उदाहरण उनके जीवन के भाषारी में मिलता है। वे खिलाते हैं कि "कन्याओं से मेरो प्रारंभ है कि वे क्या तो होकर गृहस्त बनें, तो समुद्रजी की आध्यात्मिक व्यवस्था बहुत अनुकूल न होने पर चबायें नहीं, अपने पति से उठाए नहीं, अपने पति का मन से भी निराशर न करें, अपनी उनके पति श्रद्धा और प्रेम का भाव रखें। प्रेम-पूर्ण उसे उसको हरिण्य करें और आध्यात्मिक उपष्टि के मार्ग को मुमुक्त बनाएं। पति के संतोष, भय, निराशा और मिलतमुक्त को अपने प्रमोद व्यवहार से दूर करें। उसे ही जिज्ञासक करें और न उसकी कोई उसके दूसरे को ही उसके दूसरे को अच्छी बनाएं। घर-बाहर प्रत्येक अवसर में उसकी कमाई में स्वतंत्रता और सत्त्वक प्रदर्शित करें।"
इसी भाषा के प्रदर्शन उन्होंने पुस्तकों के लिए भी किया है। वे लिखते हैं कि “मनुष्यों को बाहिर के अपनी धर्मपरिवारों पर ध्यान देने आरोप तथा उनके मुद्दों नियामक अवलोकनों की प्रतिकृति का निरंतर ध्यान रखना। उनके ऐसा भ्रमण शर्यान करे, जैसा उन्होंने कभी किसी उपवन्यास, नाटक या काव्य में पढ़ा हो अर्थात उसकी इच्छा उनके मन में उत्पन्न हुई हो।”

उपर्युक्त उदारों के यह प्रतिभागित होता है कि उनमें व्यक्ति और उनके पारिवारिक जीवन को सुखद और समृद्ध कैसे बनाया जाय, इस सम्बन्ध में वे सजग रहे। उन्होंने अपने परिवार में इन गुणों को विकसित करने का पूरा प्रयास किया। इसी का परिणाम है कि भाव उनके संयुक्त परिवार में जिसकी सदस्य संख्या २५० के आसपास है, पूर्ण सामाजिक और भार्य-निष्ठा है। उनके परिवार ने न केवल आर्थिक क्षेत्र में पराग्रह प्रगति की, अतः समाज में प्रवृत्ति और सम्मान भी अर्जित किया। उनके मतीजो श्रो श्राद्धील जो और उनके पुत्र श्रो नूपराज जी की सामाजिक प्रतिष्ठा से सभी परिचित है।

पारिवारिक दावेदारों के लिए यह हिंदी न थे। जहां एक ओर वे संयुक्त परिवार की गर्विता बनाये रखने में प्रयोजन सदस्य का सहयोग-अपेक्षित मानते थे, जहां उनका विचार था कि परिवार के प्रयोजन व्यक्ति को उसके मननस्थिति के अनुसार स्वतंत्र कार्य सम्यक भी भी बुद्धि के स्तरों में बढ़ गया। इसका एक बड़ा सफल उदाहरण उन्होंने जो दो वर्ष में सिल गया है। न्यायक बनने के उपरान्त वह वर आये, तो कई वर्षों तक अपने पूर्वजों द्वारा निषिद्ध मकान में फूल परिवार के अन्य सदस्यों के साथ रहे, लेकिन धीरे-धीरे परिवार बड़ा होने पर उन्हें वह घर छोड़ा लगाने का अनुमति दी। बतो: उन्होंने दिताओं से इस सम्बन्ध में सलाह की, लेकिन उनके चाचाजी शायद ऐसे नहीं चाहते थे। यहाँ चाचाजी चाचाजी आगा को भी अवस्थान में नहीं करना चाहते थे। आगे चलकर उनके संयुक्त परिवार में सदस्य संख्या अधिक हो गयी थी, जिसके कारण एक ही घर में रहने पर सरकी कार्यक्षमता पर भी असर पड़ता था। इस नव तथ्यों की तरफ ध्यान आकृत दर्ज करके दिताओं से उन्होंने अलग मकान खोने की आग्रह प्रकट कर दी। लालजी के इस क्षेत्र से एक बात तो पूर्णतः संपूर्ण हो जाती है कि वे विचारों के मामले में बिलकुल साफ एवं ख़ुले हुए थे, लेकिन पारिवारिक सदस्यों की मार्गदर्शन का पालन करना भी जानते थे।

इतना सब कुछ होता है बी स्नातक बनने के उपरान्त उन्होंने अपने वैद्य व्यवसाय के दो संबंध उत्तीर्ण समझा। जिस प्रकार विभिन्न समाज-समुदाय कार्यक्रमों के लिए उन्होंने समाज में एक समाजनिवार स्वरूप माना प्राप्त किया, उसी प्रकार व्यवसाय के क्षेत्र में भी उनके समाजीय व्यवसाय उनकी इस प्रतिकृति का लोहा माना था। व्यापक व्यवसाय के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े ही स्पष्ट थे। वे कहते थे कि “हम परम्परागत व्यवसाय की अपेक्षा उद्योगों के माध्यम से सकल राष्ट्रीय उत्तरदाय एवं पूंजी वित्तीय में राष्ट्र को सहयोग दे सकते हैं। और आर्थिक क्षेत्र में व्यास अवसंभवता (अन्य देशों की तुलना में) को शीघ्र ही कम कर सकने में सफल हो सकते हैं।”

अपनी इसी प्रकृति के कारण उन्होंने उद्योगों को प्रभावित करता दिया। यदि हम कहें कि फरीदा-बाबा को ओषधीकरण नर्तक के रूप में विकसित करने के लिए उद्योगपति हैं, उनमें लालजी एवं उनके परिवार का योगदान ज्यादा ही माना जायेगा, जो कोई अत्युक्तिक न होगी। उनके संयुक्त
सांगरसम जैन

परिवार द्वारा स्थापित ओषधीय संस्थानों में न्यूक्रीम ग्लासिक्स लि०, न्यू वेर इक्सेडुएल लि०, एचिस तेक्सीक्लस एवं फारमसिस्टिक्लस लि०, न्यू फार्म सेमिकॉल्स बादि उल्लेखनीय हैं।

इन सबके बाबजूद उनके जीवन का एक और भी पहलू था, जो नितांत दार्शनिकता से अंतर प्रोत था। वे अपने इतिहास बोधित होनेवाली परिवारों के सन्दर्भ में इतना अत्यंत चिन्तन करते थे कि वह एक दार्शनिक मीमांसा बन जाता था।

संयोगवश उनके जीवन-दर्पण की समस्या सकने में उनकी डायरी के पश्चात हमें मारगदर्शन दे सकते हैं। वे लिखते हैं कि “हिन्दुओं को इस एक हो जनम पर बिविवास नहीं है। उन्हें बिविवास है
कि आत्मा अपनी उपार्थि के मार्ग में कई बार जनम धारण करेगी। इसलिए किसी विशेष जन्म में न
tो इतना मोहत्व हो नहीं चाहिए और न निराला ही। व्यक्ति आत्माविकास के अनेक अवसर मिलते
हैं। मृत्यु उन्हें कभी एक ऐसा अंत जो सदैव के लिए विवास के अवसर हमारे हास्य दे चीन है,
प्रतीत नहीं हुआ। शरीर हो तो अवस्था है, आत्मा नहीं। जिसका स्वभाव ही बदलते रहता है, तो
फिर उससे इतना मोह भी कम हो। भारतीयों ने मृत्यु शरीर को जलाने को जो प्रया निकाली, वह
cई कारणों से अभ्यस्त है। भारतीयों का मृत्यु शरीर से न तो मोह था, और न इस जीवन शरीर की
kई आवश्यकता।”

उनके यथाक्रम मुख्यभाव ही इतना कुछ कह जाते हैं कि जो एक व्यक्ति एवं निराला व्यक्ति
के जीवन में पुनः आपा की व्यवस्था जगा सकने हेतु परापत है। वे अपनी डायरी में यह भाव व्यक
kरते हैं कि “संसार विविधताओं से सहर पड़ा है, यह अपार है, अथवा है। इसमें कोई भी घटना
और अवसर असम्भव नहीं। स्वयं जैसा करोगे, वैसा थीसोगे। अतः किसी भी घटना से बचावा
नहीं, व्यक्ति वही सब कुछ सम्भव है। अतः जो कुछ भी परेशानी है, वह व्यक्ति की खत्मीता और
sकीम्युटें के कारण है।” इसलिए वे परेशान व्यक्ति को इन अवस्थाओं एवं संस्कृतियों से
उपर उठने की सलाह देते हुए लिखते हैं कि “क्रय वस्त्र सह, यादों हो, अमोरि हो, गुण हो,
दूर हो हंसो-हंसाओ तो तुम मुखो होगे और संसार तुम्हें स्वीकार तीतो होगा।”

परम्परागत रीति-रिवाजों में भी उन्हें यदि कोई विशेष बात दिखाया अपनी पद्धति, तो उस पर
चिन्तन करते और लिखने में सक्र न पाते। हिंदुओं और मुसलमानों के योगारों की
तुलना करते हुए वे लिखते हैं कि “हिंदुओं का कोई व्यक्ति हो, वह आत्मन्वित्व के लिए होता है।
हम जन्म दिवस तो आत्मन्वि के साथ मनाते हैं, पर मृत्यु दिवस भी आत्मन्वि का हो विषय है।
मृत्यु दिवस के लिए अन्त नहीं। मृत्यु व्यक्ति हमारे लिए सदा के लिए थोड़ा नहीं गया। यह तो जीवन शरीर
cका जीवन भी कम होता है। हमारे थर्माता हो जाते हैं, जिनकी मृत्यु कई
प्रकार के दुख और कष्ट से हुई है; परन्तु हम कभी भी उनकी उस अवस्था दुःख और पोटा का
आवरण नहीं पहलाते। मृत्यु भी हमारे लिए उलझवा या आत्मन्वि मनाने का दिवस है, वानिता का अदृ-
भुंत अवसर।”

भारतीय संस्कृति की आत्मसात करने की प्रवृत्ति पर उनकी लेखनी कितनी मुखर हुई है। वे लिखते हैं कि “हिंदुओं के अवसर जिन्होंने का एक कारण यह भी है और जो सबको बात
है—यह है हमारी समाजवादीलता। सदैव ही हिंदुस्तान में नये-नये लोग आक्रमकारी अवसर
यह निलिप्त जैनविद्या के निकाय से सूचक बाबू हरजसराय जी जैन : व्यवित्त एवं कृतित्व

अन्य रूपों में यहाँ आकर बसते रहे हैं। वे अपने-अपने विचार और धर्म साथ लाते रहे हैं, किन्तु यहाँ आकर वे सभी एक-दूसरे से घुल-सिल गये। यहाँ का प्रमाण उनका ही है। बायजार वर्ष की पराधीनता के उपरांत भी हमारी संस्कृति सीखता है, कारण यही है कि हमें वाणिज्य, तरलता, दृढ़ता, पवित्त्रता, कार्य क्षमता एवं अवरक्षक साथ अनुकूलन के गुण सदैव रहे हैं।”

अपने एवं परिवार के स्वास्थ्य को सम्बन्ध में वे पहले से ही बड़ता सतर्क रहते थे। अपने बाल्क्यकाल से ही वे सुख-शांति निम्नलिखित प्रार्थना करते थे। प्रथम कार्य करने का उनका समय निम्नलिखित होता था। वे समुचित व्यावहार आदि करते थे और अपने परिवार को इसे हेतु प्रेरित करते थे।

दातों की गुरुत्व के संबंध में उनके विचार कितने अनुकूलणी हैं। वे क्यों हैं कि “दातों के मसूरों पर कुछ जोर से अंगुली पत्ते करो और उपर के मसूरों पर उसे इस प्रकार पत्ते कि यह मसूरों से नीचे की दातों की ओर आए और नीचे के मसूरों पर इस प्रकार अंगुली पत्ते कि वह फर्श से ताप कोई स्थान पोला पड़े।” वह न पड़े। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि बहुत जोर से दबाने पर मसूरों के स्थान जो दातों को पकड़ कर रहते हैं, ताजेंही हो सकते हैं। अतः दातों के लिए समुचित व्यावहार करना ही उचित है। इसके लिए मसूरों की मालिका करना ही उचित है, जब आदि को दातों से दीलकर अद्यावधि उपयोगी होते हैं। दातों के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि अति गर्म और अन्य आदि अति ठंडे पदार्थ उनके लिए शरीर हैं। दातों का जीवन में कितना महत्त्व है, वे स्पष्ट करते हैं कि यदि मृत्यु में दात नहीं हैं, तो न मोंग विवादास्पद होगा, न भोजन में स्वाद आयेगा, न चेरे का सौन्दर्य हो रहेगा।” उनका यह लेखन इस बात का प्रतीक है कि वे स्वास्थ्य सम्बन्धी छोटी ही छोटी बात के लिए कितने सवेदनशील थे।

लालाजी न लेकर अपने या अपने परिवार के प्रति सतर्क रहते थे, अपनु सामाय जनता के रोग भी उन्हें अन्दर तक समहार करते थे। इसलिए उन्होंने फरीदाबाद में अपने पुत्रों के आदेश के लिए नित्यकर जीवन-जगन चैरिटेबल ट्रस्ट की स्थापना की, जो आज होमोपैथी चिकित्सा पद्धति से सामाय जनता के कहरों का निंचारण करने में समर्थ है।

इस प्रकार इस यह कह सकते हैं कि श्री लाला हरजसराय जी ने वह सब कुछ निकाला, जो संसार में अंशुपालियों पर गिने जा सकते लोग किया करते हैं। उन्होंने बिना किसी नाम और या की कामना से, निकाय भार से समाज सेवा की। हमें यह कहने में बड़े ही गर्व का अनुभव ही रहा है। लालाजी उन गिने-चुने व्यक्तियों में से थे, जिनको सरस्वती और लक्ष्मी का वरद उपहार साथ-साथ प्राप्त था। इतना वस तुरों होते हुए उन्होंने अपना समय जीवन एक विद्याध्यात्मिक एवं समाज सेवी के रूप में व्यतीत किया। वे एक ऐसे व्यक्ति के स्वामी थे, जिनके अर्थ परस्मय एवं मूल्यवान से पाश्चात्य विद्वानों शोध संस्कृति के रूप में एक ऐसी संस्कृति का विकास हुआ, जो उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का जीवन स्वरूप है, और जिसके कारण वे जीवन की उदासी में लोग व्यक्तियों में अस्तिपण माने जा सकते हैं। सामाजिक कार्य सम्पन्न करते हुए भी आधिक युद्धों पर उनकी सततता दस्यन्ती थी। निश्चित नियमों का अनुपालन करते हुए शोषण की अपेक्षा से रहते कर्म में तल्लीनता ही उनके जीवन का बीमार रहा है। सम्बन्धित संस्थान की रोटों की टोकरी का एक इंडा भी
उनके काम न आये, इसके लिए वे न केवल स्वयं चेतन्य रहते थे, अन्ततः अपने पारिवारिक सदस्यों
एवं इत्यादि को भी सचेत एवं सावधान करते रहते थे।

वस्तुतः लालाजी का समुच्चा जीवन एक विशाल शक्ति का था या जिसमें दान का मतलब होता है,
जीतते के लिए पूर्व से भी अधिक अक्षम करता। उनकी इसी प्रकृति ने उन्हें ऐसा व्यक्तित्व प्रदान
किया, जिसकी वजर उन्होंने हर स्तर में सफलता की कदम चूमने हेतु विशद किया।

उनके भरे-पूरे परिवार में कुल ६ पुत्र और ६ पुत्रियाँ ने जन्म लिया। इनमें श्री सुबबिनाथ
एवं प्राणाम पुत्र श्री अमरचन्द जैन क्रमशः १९५८ एवं १९८५ में स्वर्गवासी हो गये। श्री पारम
श्री मृण्डनाथ जैन, श्री विद्याभ्यास जैन, श्री रमेशचन्द्र ब्राह्म एवं और श्री गुराजी जैन अपने
पृथ्वी पिता के नवशक्ति कदम पर ही बच रहे हैं। उनके पुत्रों में वारियता क्रम के अनुसार दूसरे श्री
विद्याभ्यास जैन सामाजिक और शैक्षिक गतिविधियों में न केवल प्राप्ति से कार्यरत हैं, अन्ततः
वर्तमान में पार्श्वनाथ विद्याधर्म शोध संस्थान में सचिव का महत्तर पद बनाए ही निश्चित कर
कुल जाता के साथ संभाले एवं है। लालाजी के बड़े भाई लाला रतनचन्द्र जैन के पीयूष और श्री शादीलाल जैन
के पुत्र श्री नूरलाल एवं जैन जो पार्श्वनाथ विद्याधर्म शोध संस्थान की संस्थान संस्था उपाध्यक्ष
भी हैं, अपने दादाजी की कुश्ति पार्श्वनाथ विद्याधर्म के सम्यक विकास हेतु सदैव सक्रिय योगदान देते
हैं; और श्री नायन जैन समाज को प्रतिनिधि एवं अलिंगन भारतीय संस्था “भारत जैन महामण्डल” के
अध्यक्ष भी हैं।

उनके परिवार की सेवामायन का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उनके निवयो-
धर्म उनके द्वारा ध्यानप्रमित की गयी शैक्षिक एवं सेवासंस्थाओं की निरस्त्र प्रगति हेतु उनके
परिवार ने उनकी स्मृति में सेवा और शिक्षा के लिए २५ लाख रुपये के एक चेकेंद्र ट्रस्ट का निर्माण
करने का संकल्प लिया है। यह निश्चित हो उनका एक प्रत्यासाधनक कदम है।

यद्यपि आज हमारे बीच लालाजी का स्थूल शरीर विद्वान नहीं हैं, लेकिन पार्श्वनाथ विद्या-
धर्म शोध संस्थान के क्रम-क्रम में व्याप्त उनका सूक्ष्म शरीर उनके व्यक्तित्व और क्रियात्मक कहानी
कह रहा है। आज समाज का दाविल है कि उनके द्वारा स्वर्णविद्म जैन विद्या के उच्चतम अध्ययन
केन्द्र, पार्श्वनाथ विद्याधर्म की विकसित एवं समुच्चारत होने में मद्य, व्यापार, कर्मण आद्योग देते
हैं।

अन्त में हम इन्हें हो कहना चाहेगे कि लालाजी ने जिस ज्ञानदर्श को भगवान तथा पार्श्वनाथ की
पावन नदी में प्रज्वलित किया है, उसकी झांसी परि-दिक्षा सदैव आलंकित रहे यही उनकी
स्वर्गस्थ आत्मा के प्रति सच्ची भ्राताभक्ति होगी।
सन्निहित कार्यकर्ता लाला श्री हरजसराय जी

—दलमुखबाई मालवाणिया

तार २०-६-८६ को तार किसाना दे हालु १८-६-८६ को श्री लाला हरजसराय जी का अवसान
हो गया। यथापि दिखा कुछ बार्जौंते ते वे बीमार तो थे, किन्तु हालकत तो ऐसे ही थे कि वे घाटाधु होगे।
किन्तु हमारी चुमुक्षा और नियति में मेहल नहीं। वे ९० बार्जौं की आयु में जाल दिये।

लाला हरजसरायजी के बड़े भाई लाला रतनचन्द्रजी से तो भरे मुलाकात बमबाई में १९३४ में
हो गई थी। उनकी लोग पंजाब का शेर रहते थे। स्थानकवासी कानफरेंस में उनका जो रूप
देखा वह शेर का ही था। उनक्से मे में जो जोके वह बिना किसी दिनचक के कह देते थे—और
अपनी बात पर वे अटल भी रहते थे। मालूम हुआ कि उनका कुटुंब ही ऐसा था कि जो भी उचित
हो उसका समर्थन करता—अनुचित का अनुसरण नहीं करता। जब उनके बड़े को मालूम हुआ कि
मोही प्राप्त करने में बड़ी हिस्सा होती है तो अपनी कमाई का विवाह किमे बिना तकाल ही मोही
का व्यापार छोड़ दिया। ऐसे साहस भाष के व्यापार में दुर्रम है किन्तु यह सख्त घटना है।
ऐसे ही वे लाला रतनचन्द्रजी के बेटे श्री शादीलाल जी। वे बमबाई के शरीफ बने तब कई तरह की
पापियां देने का अवसर आया, किन्तु वही मॉर्स का काम उन्होंने पार्टी में नहीं किया। ऐसे
कुटुंब में जन्मे लाला हरजसराय जी लाला रतनचन्द्र जी के छोटे भाई थे, जो कुटुंब के संस्कार उनमें
होना स्वामादिक है। कुटुंब की जैन भावना तो उनमें ही ही, उसमें मिले आयर समाज के विचार और
राजनीतिक विचार धारा। तब लाला हरजसराय का जीवन एक उच्च सज्जन का होना स्वामादिक है।
उनको नई दिखा का महत्त्व जाता था। ब्रह्मणी ए० तक पढ़े थे। दिखा के विचार में आयर
समाज के नये विचार का प्रभाव उन पर पड़ा और उन्होंने अमृतसर में ‘रामायण’ के नाम से एक
उच्च आदर्श को लेकर लड़ने और लड़ने को लड़कियों की स्कूल की स्वामा ई० जन्म० १९३३ में की और जब
tक अमृतसर रहे तब तक उसका सूचार रूप से संचालन करते रहे। जब फरीदाबाद आये तो मंत्री
पद छोड़ दिया।

मेरा और उनका प्रथम परिवार १९३७ में बनारस में हुआ। अमृतसर का एक प्रतिनिधि-
मण्डल दिखा संस्था की स्वामा का बात लेकर बनारस पहिले रथूमलालों के पास आया था।
उसमें लाला हरजसरायजी ही मुख्य थे। उनको और उनके साधुओं को पंडित जी की यह बात—
‘स्थानकवासी समाज में दिखा की आराधना देखी नहीं जाती, तो आप कुछ उसके लिए करें और
स्थानकवासी समाज की दिखा के लिए नए कर्म करना हो। तो बनारस से बहुत कोई स्वामा ही नहीं
सकता’, जैसे गई। उन समय ने एकसत्र से निखाय रहता कि बनारस में गौरव और स्वामलालों की
स्मृति में ‘पारखुँडक विद्याध्याप’ के नाम से संस्था की स्वामा का जाय। भाष हुआ देखते हैं कि यह
संस्था जैन समाज की एक प्रतिनिधि संस्था बन गई है। इसमें श्री लाला हरजसरायजी का जो योगदान
रहा है, वह वेदांत विद्वानों को गाढ़ रहेगा। जब तक स्वस्थ रहें, वे इस संस्था के मंत्री बने रहें और
उनकी सभाओं में हुल जिस सहज बुद्धि से करते रहें, उसका में लाभ है।
दलसुखभाई माधवनिया

अनेक बार मतभेद हुए किन्तु निपटाने की उनकी जो युक्ति थी उसके कारण उनसे किसी का मतभेद रहा ऐसा था नहीं जानता। अत्यंत सजजन और न्याय परायण ऐसे व्यक्ति का दर्शन दुर्लभ है।

संस्था के संचालन में अर्थ के आवश्यकता होती है। उसका जुटाना एक कठिन कार्य होता है। अर्थ व्यवस्था उनका कुटुंब और कुटुंब से संलग्न अन्य परिवार कर सकने में समय था, किन्तु उनका विचार था कि यह संस्था समाज की है और समाज का भी सहयोग उनमें होना जरूरी है—ऐसा वे मानते थे। अतएव स्वातंत्र्याधीन समाज के अन्तर्गत कुटुंबों में घर-घर जाकर वाणिज्यीक तीस रूपों जैसी रकम के एकत्र करते रहे। संपन्न परिवार के होते हुए भी उनकी इस कार्य में कोई संकोच नहीं था। इस तरह उनके कुटुंबों को उन्होंने संस्था के संलग्न कर दिया था।

जिज्ञा के क्षेत्र के अनुसार १९४२ से ही राष्ट्रीय विचारधारा से थी वे प्रभावित थे और बाद में पहुँचा स्वीकार किया था। उन्हें कई पद की हक्का नहीं थी, किन्तु धोस कार्य में शर्म था। अतएव जिस संस्था को उन्होंने बनाया उसी में पूरा समय देते रहे। फिर भी उनका नाम उनके कार्य के कारण रोगिन थोला स्वाभाविक था। अतएव हम देखते हैं कि हैं १९४२ में स्वाथ जैन ज्वान काष्ठकेरन्स के प्रमुख बने।

होली के दिनों में वे अपने मित्रों के साथ बनारस आते और विद्वानों के छात्र और अध्येता तथा युविवेकियों के अध्यापकों के साथ होली की खेलते। इस तरह उन्होंने विद्वानों के साथ टूटा हुआ विद्वानों की यादात्मक स्थापित कर दिया।

पूज्य धामोदरनाथ रत्नचन्द्र जी का चार्चामण्डल अमृतसर में हुआ तब उनके परिवार में आये। ब्रह्म यज्ञ में उन्हें ग्रामीण जीवी कोष बना रहे थे, उनमें श्रद्धां जी का अंग्रेजी रूपान्तर करने में वे सहयोग बने। पूज्य सोहनलाल जी को अंग्रेजी अखबार पढ़ते सुनाने का काम भी उन्होंने किया।

उनकी अपना परिवार बहुत बड़ा था। उनके छः पुत्र और तीन पुत्रियां हुई। उनके रहते, उनमें से दो पुत्र चल बसे लेकिन उनकी धार्मिक परिवार ऐसी थी कि एक बात ही कहते थे कि मुझे जाना था और वे सही थे। जो बुढ़ा जाते उसे सस्त्री से सहन करता उनका स्वभाव बन गया। उनकी पत्नी श्रीमती नामधेनु का भी अवसान सन् १९६० में ही हो गया था। किन्तु उनके परिवार ने उन्हें प्रेम से संभाला।

पारवतनाथ विद्वान का भार उनके द्वितीय पुत्र श्री भूपेन्द्रनाथ जी अच्छी तरह संभाल रहे हैं और उनका अभ्यास लड़कता नहीं, ऐसी निधि से श्री भूपेन्द्रजी कार्य कर रहे हैं।

बहुमदाद-९
बाबू हरजसरायजी : एक प्रामाणिक व्यक्तित्व

—गुलाबचंद जैन

पार्श्वनाथ विद्याधर्म शोध संस्थान के निमित्त में बाबू हरजसरायजी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति की स्थापना के उपरान्त इसके कार्यक्षेत्र को विस्तृत रूप देने के लिए आपने कुछ मित्रों को सलाह तथा प्रतिवेश्नी मूल्य श्री रतनचन्द्रजी म० सा० के बादशा से आपने प० सुखलालजी से बनारस में सम्पर्क स्थापित किया। पणित जी के निदेशन के आधार पर समिति ने जेनविव्वा के विकास के प्रति प्रस्ताव-प्रसार को अपना मुख्य लक्ष्य बनाया तथा उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु दानगरी काशी में १९३७ में पार्श्वनाथ विद्याधर्म शोध संस्थान की नींव डाली। समिति को राष्ट्र द्वारा अतिरिक्त श्री हरजसरायजी ने इस पुनः कार्य में व्यक्तिगत रूप से काफी आधिक सहयोग प्रदान किया।

बाबू हरजसरायजी से मेरा प्रथम परिचय उन्हों के मुयोट्थ सहीजे लाल शादोलौजी के माध्यम से स्व० व्यास्त्त्व वाचस्पति श्री मदनलालजी म० के सावित्री में दिल्ली में हुआ था। दिन-दिन यह सम्बन्ध प्रमाण होता गया, फिर तब उनके साथ पार्श्वनाथ विद्याधर्म के कोषाध्यक्ष के रूप में वर्षा कार्य करना पड़ा। में पाया कि लालजी स्वभाव से अवलंब मुदु, अल्पभावों और स सबोची हैं। किन्तु धर्मनिष्ठा और आचार उनमें कूट-कूट कर भरो बुझे हैं। अपने समाज देखते ही, किन्तु उनका रोचा कोई कामना नहीं रखो, सेवा का दाल कभी नहीं पीटा। अविलम्बी और निष्काम भाव से सेवा करता है उनके जीवन का मूल मन्त्र रहा है। सामाजिक संस्थाओं में कार्य करते हुए भी आधिक मामलों में सदैव सजग और धार्मिक रहता उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। संस्था का एक कार्य भी अपने निजी उपयोग में न आये इसके लिए न केवल स्वयं सजग रहते, बल्कि परिवार के लोगों को भी सावधान रखते। लालजी केवल विद्याप्रेमी ही नहीं हैं, अपनी स्वयं विद्यानु भी हैं। यह तात्साह्य, बहुत कम लोग ही जानते हैं कि शातावधारी प० रतनचन्द्रजी म० सा० द्वारा निमित्त अर्थमागारी कार्य के अंग्रेजी अनुवाद का कार्य स्वयं लालजी ने किया था।

यह इसी के परिमम का अंतर फूल है जो पार्श्वनाथ विद्याधर्म शोध संस्थान जेनविव्वा और जेनविव्वा की निर्मल ज्योति फेला रहा है।

उनकी तपस्विता एवं निष्काम सेवावृत्ति से हम लोगों को सत्ता प्रेरणा मिलती रहे।

विल्लो
श्री हरजसराय जैन : एक समाप्ति व्यक्तित्व

—हरीशचन्द्र जैन

कुछ बातें असम्भव नहीं तो कठिन जहर होती हैं—श्रीमंत होकर भी सादी में जीना, सहायता के लिए नौकर-चाकरों के रहते भी हर काम खुद निवाप्तना और संसार में रहते हुए भी संघार की मोह माया से निर्भर होकर जोना। ऐसे व्यक्ति में ज्ञान, चरित्र और सेवा का संगम होता है। ऐसा ही व्यक्ति धर्म तथा समाज के लिए कुछ होस कर पाता है।

श्री हरजसराय जैन के मेरा परिचय सन् १९३७-३८ से है। वे व्यापार के सम्बन्ध में वक्तर बम्बई वाते और मेरे पूज्य पिता श्री जगन्नाथ जी जैन के पास रहते। मैंने उन्हें सामान्य तड़क-बड़क से दूर हृदेश बादी के निर्मल वस्त्रों में ही देखा है।

इस बीच वक्तर उसकी लम्बी चर्चाएँ होतीं। शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिस पर वे अधिकारपूर्वक नहीं बोलते। सामान्य घर-घरस्ती से सम्बन्धित विषयों से लेकर तारामण्डल व श्रद्धा-नक्शा तक। परन्तु हर बार चर्चा सिमट कर श्री सोहनलाल जैन विद्वान प्रसारक मण्डल एवं पार्वतनाथ विद्वान शाखा संस्थान पर आ जातीं। उनके विकास की चिन्ता उन्हें हर समय सताये रहती और मैं मानता हूं कि उसी चिन्ता का परिणाम है कि भारत पार्वतनाथ विद्वानेश्वर जैन-विद्वान का विश्व प्रसिद्ध शोध संस्थान है।

मैंने अधिक समय उन्हें समझने वाले विद्वान व विद्वान के कार्यों में ही लगा पाया है। संस्था की प्रगति धीमी न हो, इसके लिए उन्होंने एक-एक दिन में ५०-८० पत्र तक अपने हाथ से लिखे हैं।

परन्तु कार्यों में तल्लीनाता के बावजूद, स्वभाव में विकृत उनकी विलक्षणता है। मुख्य मालूम है, परिजन के विचारों के समय भी वे सामान्य व्यक्ति की तरह ज़ब्त की असारता पर चर्चा नहीं करते; बल्कि घटना से निर्पल ही कर्म में तल्लीन रहते। शायद गोपा में ऐसे ही व्यक्ति के लिए ‘कर्मपर्यंत बाधिकारसते’ की बात कही गई है।

पार्वतनाथ विद्वानेश्वर, श्रीरामविद्वान हाईस्कूल, होम्योपेथिक विकित्सालय आदि शिक्षा एवं सेवा के उनके रोपे गये चीरे वट्टवुला का आकार ले, यही कामना है।

खार, बम्बई
LALA HARJAS RAI: LIFE AND IDEALS

S. L. Khanna

It has given me immense pleasure to learn that P. V. Research Institute, Varanasi, is planning to bring out ‘Shri Harjas Rai Commemoration volume. That I should be called upon to record my reminiscences of my association with Harjas Rai, gives me added pleasure and I consider it a privilege.

One is tempted to use superlatives when one writes about men of the calibre and stature of Harjas Rai that such men as he still lived in our midst, must be regarded as a blessing.

I came in contact with Harjas Rai, for the first time, way back in 1915, when he, from Amritsar and I, from Wazirabad (Pakistan) migrated to Lahore (Pakistan) to join the Govt. college for further studies after Matriculations.

Both of us were outstation students so we sought accommodation in the boarding house commonly known as ‘The Quadrangle’. Harjas Rai was allotted a seat in dormitory number 1 and I got one in the contiguous dormitory number 2. Each dormitory accommodated eight students in those days. Harjas Rai was a vegetarian and because I was a non-vegetarian, we joined different messes. He had taken up Arts and I had taken up Science subjects. Our contact during the first two years, therefore was limited to only two periods of studies a day at college. After college hours however, we were invariably together every evening playing Hockey at the playground, close to the hostel. We were both keen players but not good enough to be inducted into the college eleven. Both of us were gifted with powerful vocal chords and we made full use of the same, urging coaxing our playmates to mount an assault on the opponents goal.

After passing the Intermediate examination in 1917, I also took up Arts subjects in common with Harjas Rai and as luck would have it, we were both accommodated with two more students in the same room in college hostel known as ‘Sheesh Mahal’. We stayed together in this hostel
for full one year and this gave us the opportunity to get to know each other from close proximity. I felt drawn to him because he possessed qualities of head and heart that endeared him to one and all. He led a well regulated disciplined life. Before going to college in the morning he will leave his bed, his table and other belongings arrayed and arranged in proper order, spick and span. He had fixed hours of study and did not believe in wasting time in idle gossip. He never missed to say his prayer before slipping into bed at night and before leaving the bed in the mornings. His sense of tidiness has stuck to him throughout his life.

Students respected him for his sobriety, affable manners and cheerful disposition so much so that he earned the appellation of ‘Taya)—senior uncle. Otherwise too he deserved this title because he was a married man and was the father of a son by that time! In the fourth year of our studies at the college, we were again allotted accommodation in the Quadrangle. But this time we were in individual cubicles. Even so, because we were studying the same subjects and our interests were common in sports like Hockey, swimming and boating, we spent longer hours in each others’ company.

After graduation from Govt. college, Lahore, Harjas Rai went back to Amritsar to join his family business in Guru Bazar, under the guidance of his respected father and in partnership with his brothers, one elder and the other younger to him. Here he was lovingly called Babu Harjas Rai, possibly because of his high education.

I stayed on in Lahore for another two years studying law in Law College. We used to visit each other occasionally and I thus got to know his brothers and father.

At the conclusion of my studies, I took up service in the Police department where I was entrusted with the task of conducting Police cases in Courts. My postings took me to different district towns like, Lyallpur, Sheikhpura, Ambala, Ludhiana, Sargodha and Rawalpindi etc. Distances did not make any the least difference in our relations however and the bonds and ties of our friendship took into its folds our family members as well and it is extremely gratifying that our children, boys and girls are extremely fond of one another.
Babu Harjas Rai and his brothers had large families and in course of time, Babu Harjas Rai and his family started feeling cramped and suffocated in the meagre accomodation at their disposal. After long deleberations and with great hesitancy, he approached his father and sought his permission to leave the joint family house and take up seperate residence. Chacha Ji did not approve of the proposal and asked his son to shelve the proposal for sometime. Babu Harjas Rai kept drawing Chacha Ji’s attention now and then to his difficulties and problems emanating from joint family living. His sense of duty to his respected father did not permit him to injure his feelings and he did not force the issue. It was after the death of Chacha Ji and when his eldest son’s marriage was approaching that he rented a seperate house in Lakkar Mandi. Later on, he and his younger brother built magnificent banglows on Maqbool Road in the Civil Lines and started living there.

Babu Harjas Rai’s sense of cleanliness has stuck to him throughout his life. He used to sweep his rooms, himself. He would then dust the furniture, books and registers and arrange every little thing in order. He followed the same routine when the family shifted from Amritsar to Faridabad Industrial township. Unfortunately his feeble frame and ill health do not permit him to do this job any more and the same is handled by others. Generally Babu Harjas Rai is very soft spoken and accommodating. He is never aggressive but at the same time he is not prepared to lose sight of his basic principles. I recollect an occasion when he showed his firmness and courage in confrontation with elders in Jaina brotherhood for whom he had great regard. I was a member of the marriage party which went from Amritsar to Sialkot to celebrate the wedding of Babu Harjas Rai’s nephew. As was customary then and to a lesser extent even now, members of the ‘Barat’ would sit together in groups of five or six in a circle and the eats used to be served in large size Thals. Harjas Rai and I were in one group and were eating sweets etc, from the same tray. Some members of the party took exception a non-jain partaking of food along with Jains. Harjas Rai let them know clear and loud that he and his friend, viz myself, would eat together. There was some heat engendered but ultimately Babu Harjas Rai’s persuasive arguments, put across a gentle but firm manner overcame their prejudices and things went on merrily. Business was not the only con-
cern of Babu Harjas Rai in Amritsar. As his children grew up, he became concerned about their education and it was through his pioneering efforts that a co-educational institution came into existence at Amritsar. This school was run in a rented building of Hall Bazar and it was through the untiring selfless efforts of Babu Harjas Rai that the present magnificent building of the Mall Road now houses Ram Ashram High School. This School was literally built up brick by brick by Babu Harjas Rai and I understand that the school has—boys and—girls on its roll today.

Side by side with this, Babu Harjas Rai kept up his interest in literary pursuits. He delved deep into Jaina scriptures and felt the need for research in ancient Jaina literature. He enlisted the support of Jaina friends, put across his ideas to them and this dedicated pursuit led the establishment of Sohanlal Jaina Vidya Prasarak Samiti. In course of time P. V. Research Institute was established at Varanasi under the patronage of Babu Harjas Rai. This Institute is a standing monument to the selfless, dedicated service of B. Harjas Rai to the Jaina Community in the first instance and to ancient Indian literature in general. On coming to Faridabad, B. Harjas Rai and his sons established Jeevan Jagan Charitable Trust which is running a popular charitable homeopathic dispensary for services of the general public.

I conclude with best wishes for the P. V. Research Institute, a living memory of Babu Harjas Rai and his family.
HARJAS RAI JAIN, A MAN OF CLEANER PUBLIC LIFE

G. R. Sethi, Amritsar

It is a matter of great pleasure for me to know that P. V. Research Institute, Varanasi, in bringing out an Abhinandan Granth for my dear friend, Shri Harjas Rai Jain.

If I remember aright, I have known him for more than 60 years now. In fact, my contacts with a number of leading Jaina families of Amritsar date back to my school and college days in view of my close ties with the late Professor Mast Ram Jain, who was a classfellow from first primary in the PBN High School, Amritsar, till our graduation from Khalsa College, Amritsar. Both of us were frequent visitors to each other's house. Through his medium, I came to know some prominent Jain businessmen of Amritsar.

When I completed my education, I entered the profession of journalism towards the end of December, 1920. In about a year's time, I had established good contacts with upper strata of local socialites and some prominent businessmen. Lala Rattan Chand Jain, an elder brother of Shri Harjas Rai Jain, had likewise come into my contact.

It was around 1923, that I heard of Master Sunder Singh ji, a khadi clad teacher, having emerged on the scene who had established a school with about half a dozen children of some prominent businessmen, taking up full responsibility for looking after them, their education, their meals, rest and play etc. from morning till evening, collecting these children from their houses and finally returning them to their parents. This was a novel experiment in Amritsar. I was told that the teacher was being financed by members of Shri Harjas Rai Jain's family and one of their neighbours in Guru Bazar, the late Lala Dwarka Das Gotewala. Lala Dwarka Das was known to me very well, because he was a close friend of my father, who used to purchase valuable articles like gold embroidered garments, silk textiles, gold and silver jewellery etc. through Lala Dwarka Das.
Parsuaded by him, I had visited the new school, which had by now a dozen odd students and two or three teachers helping Master Sunder Singh ji. The school was housed in a few rooms of the dilapidated building of the erstwhile Christian Missionary School near Guru Bazar. Lala Harjas Rai Jain was already looking after the financial side of the school.

When its strength increased after a few years, it shifted to a more commodious building near my office in Katra Sher Singh. It was then known as “Mātā Pitā School” and I put my own children in this school. Our contacts with the founder developed further and I was a frequent visitor to the school. This was perhaps in the late twenties or early thirties. As its strength grew further, it was shifted to a building in the Civil Lines. By now a Trust had been created with Lala Harjas Rai Jain as its secretary. It had patriots like Dr. Saif-ud-Din Kitchlew, the well-known Martial Law hero and some others as its member. I was also invited to join either the Trust or the Managing Committee, which was functioning with Shri Harjas Rai Jain as its Honorary Secretary. The more I saw of him, greater was my admiration for the zeal with which he performed his duties giving time and money both to build up a wonderful institution, which has now its own spacious buildings and is the only co-educational institution in this city teaching up to Higher Secondary classes. It is my privilege to be the Chairman of its Governing Council.

The more I saw him and his working, the greater was my admiration for his integrity, both in public and private life. He was almost unsparing, when he saw something wrong done by his closest friends, he was always brutally frank and unbending on matters of principle. Because of his remarkable honesty, addiction to truth and free and frank expression on matters of public interest, he may have annoyed some people, but he did not sacrifice principles for expediency.

I cannot say anything else, except that I treat him as my model for a cleaner public life, a rare quality these days, a commodity so scarce.

I am glad that his sons are also trying to follow in his footsteps.
JAINA TRADITION OF TIRTHANKARS

Dr. Vilas A. Sangave

Tradition of Tirthankars:

Jainism is the ancient religion of India and during its long and unbroken existence it is promulgated by 24 Great Preachers known as ‘Tirthankaras’ i.e. ‘ford makers to across the stream of existence’.

This tradition of Tirthankaras begins with Rishabha, the first Tirthankara, and ends with Mahavira, the twenty-fourth Tirthankara. Naturally, there is a continuous link among these twenty-four Tirthankaras who flourished in different periods of history in India. It therefore means that the religion first preached by Rishabha in the remote past was preached by the succession of remaining twenty-three Tirthankaras during their life-time for the benefit of living beings. Since Mahavira is the twenty-fourth Tirthankara in this line of Tirthankaras, he, by no means, could be considered as the founder of Jaina religion. Hence Mahavira is not the founder but the promulgator and great preacher of Jaina religion during the sixth century B.C. Now it has been an accepted fact by the historians that Mahavira did not found Jaina religion but he preached the religion which was in existence from the remote past.

Historicity of the Jaina Tradition:

The historicity of this Jaina tradition is amply borne out both by literary and archaeological evidences. By the beginning of the 20th century many writers were under the impression that Mahavira was an imaginary or a legendary figure. Soon they realised that Mahavira was a historical figure. But still he was regarded as the founder of Jaina religion and as the champion of non-violence who revolted against the violent practices of Brahmanism. The recent researches in historical and Indological studies carried out by Western and Oriental Scholars have removed beyond doubt the ideas of former writers about the role of Mahavira and have now conclusively established the fact that Mahavira is not the founder of Jaina religion but the promulgator of Jaina religion.
which was in prevalence in India, especially in Eastern India, from the ancient past. This view is clearly stated by P. C. Roy Chaudhury in his book ‘Jainism in Bihar’ in the following terms: “A common mistake has been made by some of the recent writers in holding that Jainism was born because of discontent against Brahmanism. This wrong theory originates because these writers have taken Vardhamana Mahavira as the founder of Jainism. This is not a fact...... The creed had already originated and spread and Mahavira propagated it within historic times”.

Thus it is now an accepted fact that Mahavira is the Tirthankara or prophet of Jaina religion and that he preached the religion which was promulgated in the 8th Century B.C by his predecessor Parshvanatha, the 23rd Tirthankara. The historicity of Parshvanatha (877-777 B.C.) has been clearly established. Parshvanatha, the son of King Vishvasena and Queen Vamadevi of Kingdom of Kashi, led the life of an ascetic, practised severe penance, obtained omniscience, became a Tirthankara, propagated Jaina religion and attained Nirvana or salvation when he was 100 years of age at Sammet Shikhara, i.e. Parasnatha hill in Hazaribag District of Bihar State. Eminent historians like Vincent Smith, R. C. Majumdar, and R. K. Mookarji regard Parshvanath as a historical personage and a great preacher of Jaina religion.

The predecessor of Parshavannatha was Nemi-natha or Arishtanemi, the 22nd Tirthankara and the historicity of Nemi-natha like that of Parshvanatha, could be easily established. Nemi-natha was the real cousin of the famous Lord Krishna of Mahabharata as Samudravijaya, the father of Nemi-natha, and Vasudeva, the father of Krishna, were brothers. Nemi-natha possessed a unique personality due to his great compassion towards animals. This is clearly revealed by a significant incident in his life. While Nemi-natha was proceeding at the head of his wedding procession to the house of his bride, Princess Rajimati the daughter of King Ugrasena, he heard the moans and groans of animals placed in an enclosure for some meat eaters and instantly decided not to marry at all as his marriage would involve such a slaughter of so many innocent animals. Immediately Nemi-natha renounced his royal title and became an ascetic. Learning this renunciation of Nemi-natha, the betrothed princess Rajimati also became a nun and entered the ascetic
order. Nemi-natha preached religion for several years and finally attained Nirvana on the Mount Girnar, in Junagadha District of Gujrat State. As Nemi-natha renounced the world, he did not take part in the fraternal struggle of Mahabharata like his cousin brother Lord Krishna. Since this Great War of Mahabharata has to be assumed as an historical event and Krishna to be an historical personage, then his cousin brother Nemi-natha is also entitled to have a place in this historical picture. There is also an inscripational evidence to prove the historicity of Nemi-natha. Dr. Pran Nath published in the "Times of India" (dated 19th March 1935) a copper plate grant of the Babylonian King Nebuchadnazzar I (1140 B.C.) found at Prabhaspattan in Gujrat State, which, according to his reading, refers to the Babylonian King having come to Mount Revat to pay homage to Lord Nemi-natha. Dr. Fuherer also declared on the basis of Mathura Jaina antiquities that Nemi-natha was an historical personage (vide Epigraphica Indica, I, 389 and II, 208-210). Further, we find Nemi-natha’s images of the Indo-Scythian period bearing inscriptions mentioning his name. These and many other inscriptions corroborate the historicity of 22nd Tirthankara Nemi-natha.

Among the remaining 21 Tirthankaras of the Jaina tradition, there are several references from different sources to the first Tirthankara Rishabhanatha or Adinatha. Thus the tradition of twenty-four Tirthankaras is firmly established among the Jainas and what is really remarkable about this Jaina tradition is the confirmation of it from non-Jaina sources, especially Buddhist and Hindu sources.

**Jaina Tradition and Buddhism:**

As Mahavira was the senior contemporary of Gautama Buddha the founder of Buddhism, it is natural that in the Buddhist literature there are several references of a personal nature of Mahavira. But it is very significant to note that in Buddhist books Mahavira is always described as Nigantha Nataputta (Nirgrantha Jnatriputra, i.e. the naked ascetic of the Jnatri clan) and never as the founder of Jainism. Further in the Buddhist literature Jainism is not shown as a new religion but is referred to as an ancient religion. There are ample references in Buddhist books to Jaina naked ascetics, to worship of Arhats in Jaina Chaityas or temples and to the Chaturyama Dharma (i.e. fourfold religion) of 23rd Tirthankara Parshvanatha.
Moreover it is very pertinent to find that Buddhist literature refers to the Jaina tradition of Tirthankaras and specifically mentions the names of Jaina Tirthankaras like Rishabhadeva, Padmaprabha, Chandra prabha, Pushpadanta, Vimala-natha, Dharma-natha and Nemi-natha. The ‘Dharmottarapradipa’, the well-known Buddhist book, mentions Rishabhadeva along with the name of Mahavira or Vardhamana as an Apta or Tirthankara. The ‘Dhammikasutta’ of the ‘Anguttara Nikaya’ speaks of Arishtanemi or Nemi-natha as one of the six Tirthankaras. The Buddhist book ‘Manoratha-Purani’, mentions the names of many lay men and women as followers of Parshvanatha tradition and among them is the name of Vappa, the uncle of Gautama Buddha. In fact it is mentioned that Gautama Buddha himself practised penance according to the Jaina system before he propounded his new religion.

Further, it is significant to note that the names and numbers of Buddhas, Paccekabuddhas and Bodhisattvas in Buddhism appear to have been influenced by those of the Jaina Tirthankaras. For instance, Ajita, the name of the 2nd Jaina Tirthankaras, has been given to one Paccekabuddha. Padma, the 6th Jaina Tirthankara, is the name of the 8th of the 24 Buddhas. Vimala, a Paccekabuddha, has been named after Vimala-Natha, the 13th Jaina Tirthankara.

**Jaina Tradition and Hinduism :**

The Jaina tradition of 24 Tirthankaras seems to have been accepted by the Hindus, like the Buddhists, as could be seen from their ancient scriptures. The Hindus, indeed, never disputed the fact that Jainism was founded by Rishabhadeva and placed his time almost at what they conceived to be the commencement of the world. They acknowledged him as a divine person and counted him amongst their Avatāras i.e. various incarnations of Lord Vishnu. They give the same parentage (father Nabhiraja and mother Marudevi) of Rishabhadeva as the Jains do and they even agree that after the name of Rishabhadeva’s eldest son Bharata this country is known as Bharata-Varsha.

So far as the oldest Vedic literature is concerned we find that in the Rig-Veda there are clear references to Rishabha, the 1st Tirthankara and to Arishtanemi, the 22nd Tirthankaras. The Yajur-Veda also mentions the names of three Tirthankaras, viz. Rishabha, Ajitanatha and
Arishtanemi. Further, the Atharva Veda specifically mentions the sect of Vratyas and this sect signifies Jainas on the ground that the term ‘Vratya’ means the observer of Vratas or vows distinguished from the performer of sacrifices, which applied to the Hindus at the times. Similarly in the Atharva-Veda the term Maha-Vratya occurs and it is supposed that this term refers to Rishabhadeva, who could be considered as the great leader of the Vratyas.

In the later Puranic literature of the Hindus also there are ample references to Rishabhadeva. The story of Rishabha occurs in the Vishnupurana and Bhagavat-Purana, where he figures as an Avatara, i.e. incarnation of Narayana, is an age prior to that of ten avatars of Vishnu. The story is exactly identical with the life history of Rishabhadeva as given in the Jaina sacred literature. In this way Rishabhadeva’s life and significant importance narrated in the Jaina literature get confirmed by the account of Rishabha given to the Hindu Puranas.

Thus from the fact that Hindu tradition regards Rishabhadeva and not Mahavira-along with Gautama Buddha as an incarnation of God, it can be said that the Hindu tradition also accepts Rishabhadeva as the founder of Jainism.

Jaina Tradition and Archaeological Evidence:

From some historical references it can be regarded that Rishabhadeva must be the real founder of Jainism. In this connection Dr. Jacobi writes thus, “There is nothing to prove that Parshva was the founder of Jainism. Jaina tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara as its founder and there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara”. There is evidence to show that so far back as the first century B.C. there were people who were worshipping Rishabhadeva. It has been recorded that King Kharvela of Kalinga in his second invasion of Magadha in 161 B.C. brought back treasures from Magadha and in these treasures there was the statue of the first Jaina (Rishabhadeva) which had been carried away from Kalinga three centuries earlier by King Nanda I. This means that in the 5th Century B.C. Rishabhadeva was worshipped and his statue was highly valued by his followers. From this it is argued that if Mahavirā or Parshvanatha were the founders of Jainism, then their statues would have
been worshipped by their followers in the 5th Century B.C. i.e. immediately after their time. But as we get in ancient inscriptions authentic historical references to the statues of Rishabhadeva it can be asserted that he must have been the founder of Jainism.

Other archaeological evidences belonging to the Indus Valley Civilization of the Bronze Age in India also lend support to the hoary antiquity of the Jaina tradition and suggest the prevalence of the practice of worship of Rishabhadeva, the 1st Tirthankara, along with the worship of other deities. It is very pertinent to note that many relics from the Indus Valley excavations suggest the prevalence of Jaina religion in that most ancient period.

From these archaeological evidences it can be stated that there are traces of worship of Jaina deities and that there was the prevalence of worship of Jaina Tirthankara Rishabhadeva along with the worship of Hindu God who is considered to be the prototype of Lord Shiva in the Indus Valley Civilization. This presence of Jaina tradition in the most early period of Indian history is supported by many scholars like Dr. Radha Kumud Mookarji, Gustav Roth, Prof. A. Chakravarti, Prof. Ram Prasad Chand, T. N. Ramchandran, Champat Rai Jain, Kamta Prasad Jaina and Dr. Pran Nath.

Regarding the antiquity of Jaina tradition of Tirthankaras Major J. G. R. Forlong (in his books ‘Short-studies in the Science of Comparative Religion’) writes that from unknown times there existed in India a highly organized Jaina religion from which later on developed Brahmanism and Buddhism and that Jainism was preached by twenty-two Tirthankaras before the Aryans reached the Ganges. Dr. Zimmerman also strongly supports the antiquity of Jaina tradition in the following terms. “There is truth in the Jaina idea that their religion goes back to remote antiquity, the antiquity in question being that of the Pre-Aryan”. (Vide Zimmerman : The Philosophies of India, p. 60).
CONTEMPORARY RELEVANCE OF ‘TRIRATNA’
IDEAL OF JAINISM

Dr. L. K. L. Srivastava, Ballia

Jainism, as we know, is famous for its ethical teachings being consequent upon the attainment of liberation. A kevalin (liberated one), free from all ‘ghātin’ karmas, enjoys infinite bliss, knowledge, faith and power. In order to attain liberation, Jainism lays down certain disciplines. The very first Sūtra of ‘Tattvārthasūtra’ suggests right faith, right knowledge and right conduct together as path to liberation.¹ These are known as three jewels (triratna) in Jainism.

Now, the belief in the padārthas² (tattvas) such as soul etc. is right faith or intuition. ‘Faith in the predicaments is right intuition.’³ To elaborate it another definition follows : ‘Acquiescence in the predicaments declared by a jaina is called right faith, it is produced either by natural character or by the guru’s instruction.’⁴ This right vision appears to be eight fold viz. (a) niśaṅkatā (b) niḥkāṅkṣitā (c) nirviciṅkṣā (d) amūḍhaḍṛṣṭi (e) upabṛhaṇa (f) sthitikaraṇa (g) vātsalya (h) prabhāvanā. Right knowledge is the knowledge of the predicaments and c., according to their real nature, undisturbed by any illusion or doubt. ‘That knowledge which embraces concisely or in detail the predicaments as they actually are is called right knowledge by the wise.’⁵ This knowledge is said to be five fold viz. (a) mati (b) śruta (c) avadhi (d) manahparyāya (e) kevala. Right conduct is the abstaining from all actions tending to evil courses by one who possesses faith and knowledge. Right conduct is described as the entire relinquishment of blamable impulses.⁶

---

¹ Samyagadarśanajñāna Cāritāṇi mokṣa mārgaḥ, cf. T. S. I/1.
² Jainism recognizes the following tattvas viz. soul, non-soul, inflow, bondage, stoppage, shedding of karmic matter and liberation; Ibid 1/4.
³ Ibid.
⁵ Cf. T. S. I/9 also cf. Svaparāntaram jānātiyāḥ sah jānāti—Istopadesh-33.
Right conduct has been subjected to a five fold division viz. (a) ahimsā (b) satya (c) asteya (d) brahmacarya (e) aparigraha. These five are called ‘five vows’\(^1\) in Jainism. These are prescribed for both monks and householders to prepare the ground for attaining ‘anantacatuṣṭaya’\(^2\). In the case of former, they are termed as great vows (mahāvrata); while in case of the latter they are called small vows (aṇuvrata). Monks should practise them according to the highest and strictest standard. Householders have been given due considerations. The vow of ahimsā is the avoidance of injuring life by any act of thoughtless in any morable or immovable thing. To householders it would mean abstinence from killing any animal. Truthfulness is understood as truth in thought, word and deed. Asteya means not taking anything in thought, word or action for which one is not entitled. Brahmacarya means chastity in word, thought and deed. For a householder it would mean mere cessation from adultery. Aparigraha is understood as renunciation of all worldly interests by thought, word and deed.

A pertinent question arises in this context: Why does Jainism not cling to right knowledge alone as the path of liberation? The cause is obvious. Bondage, here, is the result of perverted vision, knowledge and conduct and hence the above three means, together, are suggested. Moreover, these three are spoken of as interdependent and if any of them is missing, liberation becomes impossible. The text runs thus: ‘without right faith there is no right knowledge, without right knowledge there is no virtuous conduct, without virtues there is no deliverance (mokṣa) and without deliverance there is no perfection nirvāṇa’\(^3\). Thus we see that when these three are united, they become conducive to liberation. They should not be practised severally. As a patient does not recover his disease with the knowledge of medicine alone but by his constant use with a conviction that he will be cured soon; similarly, liberation in life is possible with the practice of these three means mentioned above.\(^4\)

From the discussion made so far, we come to a conclusion that though all the three are equally important for the attainment of liberation

\(^1\) Cf. Five yamas in the ‘Yoga-Sutra’ ii/30.
\(^2\) Cf. T. S. VII/2.
\(^3\) Uttarādhyayna Sutra XXVIII/30.
Jainism seems to lay more stress on right action or conduct. Right knowledge and right vision are the theoretical aspects whereas right conduct forms the practical one. It is the right conduct which perfects knowledge, since theory without practice is empty. Right knowledge dawns when all the karmas are destroyed by right conduct. S. Radhakrishnan rightly remarks: 'The materialistic view of karma leads the Jainas to attribute more importance than the Buddhists to the outer act in contrast to the inner motive.‘

Now let us turn our face to the modern society and observe how the well known triad called the three jewel (right intuition etc.) bear contemporary relevance. A consideration of the temper of the modern world leads us to believe that the most important fact that every social, political or religious thinker has to face not only in India but in any part of the world (so called developed and advanced), is that the social milieu in which he lives, is in a very high degree hostile to the spiritual life. Modern world claims to be progressive for certain reasons. The rapid growth (development) of science and technology has been threatening religions values of life for a considerably long time. It is said to have brought to us prosperity, convenience, sophistication and novelty. That is undoubtedly true. This world teems with objects of comforts provided by science. We are very lavishly enjoying the blessings of science in respect of automobiles, ships and what not. Our cosmonants have already reached the Moon and think now, to migrate on that. Various discoveries and inventions in the field of medicine and surgery have prolonged the span of human life. The greatness of a nation is measured today by the quality and amount of destructive weapons it possesses. Fabulous sums of money are spent for equipping the nation with sophisticated modern weapons. No one knows what will be the consequence of all this in future, but what it has resulted in something good or bad, is visible to every keen eye. The technological revolution liberates man from his servitude to Nature but it has also the dreadful possibility of man’s self-destruction.

The secularised man of today is restless, full of doubts, relentlessly questioning and experimenting. He is sceptical regarding the existence of God, Soul, life after death and liberation. Religion, for him, is the cause of intellectual bondage, failure and lack of vitality, because it believes that all needful truth, is given to man and there is no need for further enquiry and search.\(^1\) It is supposed to be a failure to promote the best life. Overall, its vitality and usefulness is being questioned in this age.

Change is the inexorable law of Nature, I admit. Everything undergoes a change and this is its life. Our present sensibility is the outcome of the same law of Nature. Of course the modern mind wants novelty. Wonderful is the change that has made man forgetful of himself. Behind this present unrest of man of today, there lies a fact that he is not living a fuller life. The hippy movement all over the world, is a clear indication of spiritual unrest. The fact is that the Man is not only a biological entity or even a social animal, but also something more. There is a hidden core of the human personality which lends meaning to life and which gives man no rest till he discovers it. Now, what is it that most of us are seeking? Especially in this world, everybody is trying to find some kind of peace, happiness, a refuge. Surely it is important to find out, is not it? Probably most of us are seeking some kind of happiness in a world that is ridden with turmoil, wars, contention, conflict and strife. That is why, we ‘pursue, go from one leader to another, from one religious organisation to another, from one teacher to another.’\(^2\)

The destructive potentiality of increased scientific power and technological skill can be neutralised only by the development of world community. If human life is to be bearable, such a community must come into existence. This requires a change in human nature, a great wave of generosity. The world cannot be better than the individuals who compose it. Changes of government or economical systems do not help

---

us to raise the quality of human beings. We must get rid of our Self-centredness and develop world loyalty. In other words, the crisis of man could only be solved by realizing his spiritual potentialities and his true mission in life, which would spontaneously result in non-injury, non-appropriation, desirelessness, freedom from fear selfless service, Self-realization and Self-knowledge.

The necessity for us is to realize our own selves. After all that is the main issue, is not it? So long as we do not understand ourselves, we have no basis for thought; we can escape into illusions, can flee away from contention and strife, can look for our salvation through somebody else; but so long as we are ignorant of ourselves, the total process of ourselves, we have no basis for thought, for affection and action. The ideal of ‘Triratna’ is particularly relevant at the present time marked by spiritual unrest and crisis. The modern mind may not find it possible to believe in God, Soul and immortality but he can not be indifferent to the prospects of peace promised by this ideal. It puts before us the ideal of a perfect human being. Thus Triratna ideal, if put into practice, will establish permanent peace and all selfishness, enmity and malice will disappear. All our conflicts, all our contentions and clashes will come to an end. The life will be harmonious and worth living. Now What else is required by man than to live a heavenly life on the earth?
JAINAS CONCEPT OF SUBSTANCE

Narendra Kumar Singh

A thing has many characters and it exists independently. It is called substance. Substance is defined which possess qualities and modes, and also possesses two different kinds of characters. Some are permanent and essential while others are changing. For instance consciousness, is the essential character of the soul, while desires, volitions, pleasure and pain are its accidental characters. The former are the attributes (guṇa) and the latter are modes (paryāya).

The definition of substance (dravya) that we find in Jainism is this, “that which maintains its identity while manifesting its various modifications and which is not different from satta is called substance.

Substance is the subject of qualities (guṇa) and modifications (Paryāya). The quality stays with the substance, and is constant, the modifications succeed each other. A particular piece of clay always has form, but not always the same form. It is never without form, form is a constant quality, these are modifications.

Substance is that in which there are origination, destruction, and permanence. With the origination of a new mode of existence there was the destruction of the old mode of existence, while the substance has remained permanent. With the destruction of a house there is the origination or coming into existence of a heap of debris, while the bricks etc. are the same. The substance is neither destroyed nor originated, only the mode of existence, only the relations between the parts in this case. It is true that modes of things are changing every minute but qualities are not changing. Thus, when a jug is made it means that the clay lump has been destroyed, a jug has been generated and the clay is permanent, all production means that some old modes have been lost, some new one’s brought in, and there is some part in which it is permanent. The clay has become lost in some form, has generated itself in another, and remained permanent in still another form. Thus when a lump of gold is turned into a rod or a ring, all the specific
qualities which come under the word "gold" are seen to continue, though the forms are successively changed, some of its modes are lost and some new ones are acquired. So here we find that gold is always gold but in its various forms, it might be changed but every where its goldness remains, gold is a constant property.

The essential qualities are always remain in the object and the inessential qualities are changeable. For instance, the essential quality of soul is consciousness and this quality always remains in soul. Pleasure and pain and other modes are in-essentials it manifests, last for some time being and again destroy. What are the basis of these modes? The Jaina philosophy calls this basis is substance. Generally only the basis of essential qualities are called substance. In a tree, perhaps, there may be change but there are even such qualities which are not influenced by change. In general, the basis of those qualities are called dravya. But the jaina philosophy does not admit dravya as the basis of essential quality, it admits the basis of inessential qualities also.

Thus in substance (dravya) there are both guṇa and paryāya. If the substance is entirely abstract and distinct from its qualities then it may change into infinite other substances, or if the qualities can exist separate from their substance, there will be no necessity for a substance at all. The relation between substance and quality is one of contemporary identity, unity, inseparability and essential simplicity, the unity of substance and qualities are not the result of union or combination.

Substances have been classified as either astī-kāya (extended) or nāsti-kāya (non-extended). There is only one substance namely, time (kāla) which is non-extended because it has no parts. Substances are further classified as either conscious (Jīva) or non-conscious (Ajīva). There are five non-conscious substances (ajīvas) namely, matter (pudgala), medium of motion (Dharma), medium of rest (Adharma), space (Ākāśa) and time (Kāla). Now, we will discuss about the nature of five nonconscious substances.

Pudgala: Pudgala has been defined as that which undergoes modification by combination (Puḍ = to combine) and dissociations (Gala = to dissociate). It has rūpa, meaning, the qualities of colour, touch, taste and smell,
It possesses a form (mūrta). This word in the Buddhism has been used in the sense of a soul, while in Jainism it is used for matter. Matter signifies anything which is liable to integration and disintegration. It is an eternal substance with regard to quantity and quality. It may increase or diminish in volume without any addition or loss of particles. All material substances are characterised by the tendency to form aggregates or to break up into smaller and smaller parts. The smallest part which cannot be divided further is the atom (aṇu), compound objects of the material world including senses, mind and breath are the combinations of atoms. Sound has been regarded not as a quality but only as a modification of matter. According to Kundakunda pudgala is as that which can be experienced by the five sense-organs.

Aṃṭacandra Sūri, defining pudgala says that parmāṇus are called pudgalas, Skandhas are also called Pudgalas, as they are the modifications of several pudgalas. According to Jainas everything in the world except souls and space, is produced from matter. Pudgala exists in the two forms of aṇu or atom and skandha or aggregate. The skandhas vary from binary aggregates to infinite compounds.

Medium of motion : (Dharma) This is the principle of motion and pervades the whole universe, Dharma, in Jainism, has been defined as a substance which itself does not move but helps the moving jivas in their movement, just as water assists the movement of moving fishes. The fish swims by its own force but the water is essential for swimming. It has absolute absence of taste, colour, smell, sound and touch, so it is formless. The medium of motion is an immaterial substance which possesses no consciousness. From the empirical standpoint it has been considered to possess an infinite number of space points.
Jainas Concept of Substance

(Pradeśas) and from the transcendental standpoint it is said to possess only one pradeśa.

Medium of Rest
(Adharma) : This is the principle of rest and pervades the whole universe. This is the auxiliary cause of rest to the soul and matter,

Adharma has been defined as a cause of helping the pudgalas and Jīva which are at rest, in taking rest, just as earth, which is at rest, helps those who want to stay and take rest. Like dharma, it has also absolute absence of taste, colour, smell, sound and touch and so it is formless. It is because of this principle that bodies in motion are enabled to enjoy a state of rest. Dharma is a substance which provides the conditions for the movement of other substances, while remaining unmoved. Adharma, on the contrary, is the condition that helps the various substances to return to a restful state from their mobility, in the same way a tree helps a traveller to stop and rest in its shade. In Jainism these two are considered to be metaphysical categories and in Hinduism they are considered to be ethical principles. Dharma is itself motionless and it helps the movements of those which are in motion. Similarly the ‘adharma’ is motionless and helps in the stay of those which want to take rest.

Space : Space is infinite, eternal and imperceptible. All substances except time have extension and extension is afforded only by space. Space is eternal pervasive, and formless substance which provides room for the existence of all extended substances. Though imperceptible, its existence is inferred from the fact that substances which are extended can exist only in some place. Thus space is a necessary condition for the existence of all extended substances. The Jainas distinguish between two kinds of space, the one which is characterised by the
presence of motion and the another in which motion is absent. Lokākāśa is the world of life and movement and constitutes the ground of all human activity and experience. There is nothing in it except pure space. Only the omniscient souls can have a direct apprehension of it.

**Time**

: Time has astitva or existence. Time is an āstikāya, because it does not extend in space. It is infinite. It is not perceived but inferred from its characteristics which make possible continuity, modification and activity. It is one and indivisible. Modification or change of stages in a substance cannot be conceived without reference to time.

A difference has been made between eternal time, without form, beginning or end and relative time, with beginning and end and variations of hour, minute etc. The former has been regarded as kāla and the latter samaya. Kāla is the substantial cause of samaya. Relative time is determined by changes or motion in things. These changes themselves are the effects of absolute time. The eminent philosopher has said that there is not only, succession in time but also duration is.

**Substance** : (1) The Jaina Philosophy accepts the conclusion of infinite Dharma object.

(2) There remains two kinds of characters in the object, essential and inessential.

(3) Dravya is the combination of two kinds of characters.

(4) The dravya has been classified.

(5) The Jīva and ajīva come in the extended substances. The ajīva has four types, Dharma, adharma, pudgala and Ākāśa.

(6) Each pudgalas are the combinations of the atoms.

(7) Kāla is non-extended dravya.
Conclusion :

In the above classification of substance, as we see that any thing which has origin, existence and destruction is called substance, and substance possesses both qualities and modes. Substance and quality are inseparable. Substance is not changeable and is permanent. We have seen that the essential quality of substance is not changeable, for example the substance gold with its quality is not subject to change.

References :

1. Bhāratiya Darśan.
2. The conceptual framework of Indian Philosophy.
3. Outlines of Jainism.
4. Indian Philosophy.
5. A critical study of Indian Philosophy.
Jaina Theory of Parokṣa-Jñāna

Dr. Gour Hajra, Visva-Bharati

It is truly necessary to know what is pratyakṣa or an immediate knowledge before going to discussion on mediate knowledge or a Prokṣa-jñāna. Umāsvāti makes it clear that knowledge which depends exclusively upon ātman alone is pratyakṣa, while that which depends upon sense-organs and manas is parokṣa, of course, even in the case of parokṣa-jñāna, the instrumentality of Ātman is also accepted.

Knowledge derived through the sense-organs and manas was thus considered parokṣa-jñāna by Jaina Philosopher and this was directly against the views held by the other schools of Indian Philosophy, which generally held the views that the sense-organs give us immediate knowledge (Pratyakṣa-jñāna) whereas all the other ‘sources’ lead to only mediate knowledge.

But if we observe the stages of evolution in the Jaina canons, we find there are three stages. Among these three stages, third stage was influenced by the general tendency of Indian Philosophy that regards sensory knowledge as direct. (on this stage sensory knowledge has been placed in both categories, viz. direct and indirect. The sensory knowledge is direct in vyavahāra or practice or in the secondary sense).

Thus, according to early Jaina Philosophers, the knowledge which is derived from the self is pratyakṣa and knowledge which does not arise from the self alone is called parokṣa. But the later Jaina Philosophers came to accept the knowledge produced by the sense-organs also as pratyakṣa. According to later Jaina logicians perception is the knowledge obtained through the operation of sense-organs and the manas. Hemacandra defines ‘Viśadam Pratyakṣa as clear knowledge. Clarity is its special quality. Akalaṅka also held this definition.

Now, we come to our specific discussion on the Jaina theory of mediate or non-perceptual knowledge. Non-perceptual is that which is not clear. The Jaina logician Akalaṅka says ‘aviśadam parokṣam’. It is indistinct, unlike pratyakṣa, dependent on others. It is devoid of
perceptual vividness. Akalanka classified paroksha-jna into following types: (1) Smrti, (2) Pratyabhijna, (3) Tarka, (4) Anumana and (5) Agama. All these being indirect knowledge. Let us discuss these five types of mediate knowledge one by one and see which of them is very important.

(1) Smrti (memory)—Memory is the knowledge of an object perceived in the past as ‘that’ due to revival of its disposition (saamskara) which is a particular power of the self. It is revived. It is an effect of the revival of the disposition of the previous perception of an object. The object remembered must have been known in the past and it is experienced at the time of recalling it, in the form of ‘that’.

There is a controversy among the philosophers, whether memory is a pramana or not. Some holds that memory is a pramana and some holds it is not a pramana. There are mainly two traditions on the point the Jaina and the non-Jaina.

According to the Jainas memory is a sub-class of pramana. This is clearly a departure from the view usually held by other-schools of Indian Philosophy on the point. On the other hand, non-Jaina tradition, vedic as well as Buddhist Philosophers are not ready to accept it as an independent pramana on the ground that it depends on the validity of earlier experience (grahitagrahitva).

On the other hand, the Jaina logicians unanimously accept the validity of Smrti Pramana. Their main argument is that the Saamskaras recall for any particular purpose; the things experienced in the past. The memory of such things is a source of knowledge gained through senses. Therefore, memory is considered to be a pramana because it is true facts (saivadin) just as perception etc. are treated as pramanas, because they are true facts.

The validity of pramana can’t be ascertained merely by relation to its dependence or independence of experience. If this argument is accepted, even pramana will cease to be a pramana, for inference also depends on knowledge already acquired through direct empirical perception.

(2) Pratyabhijnan (recognition)—Recognition is the synthetic cognition, caused by experience and recollection and cognising the simi-
larity. It apprehends an object in the forms 'this is that', 'this is like that', 'this is different from that', 'this is correlated to that' and the like. It knows relations, identity, similarity, dissimilarity, relation of sign and signate, correlation and the like; between a present perceived object and object perceived in the past and remembered now. Recognition knows a present perceived object as known in the past, e.g. 'this is that Devadatta' perception knows 'this'. Recollection knows 'that'. But recognition knows 'this is that'.

In connection with the problem of recognition, philosophers have held divergent views on two points, viz as to whether it is pramāṇa and as to its nature. The Buddhist tradition treats recognition as no pramāṇa. They believe in the transitory nature of things and hold that Devadatta of to-day is not the same Devadatta as of yesterday. From their point of view, therefore, the recognition 'he is the same Devadatta' is wrong. For them, in fact, there is no question of recognition.

But the philosophers belonging to the two non-Buddhist traditions i.e. Jaina and Vedicist agree in treating recognition as pramāṇa. The Jaina Philosophers believe in 'change in permanance'. According to them an object changes but does not loose its identity. The change is therefore, partial and not absolute and thus recognition is possible. In fact, the very fact that we do recognise things in practice, has been used by the Jainas as well as Brahmanical Philosophers to refute the theory of transitory nature of things.

(3) Tarka (inductive reasoning)—Inductive reasoning is a knowledge of universal concomitance of the probane with the probandum in the past, present and the future arising from the observation of their co-presence and co-absence in the form of 'If this is present that is present' and 'if this is absent that is absent'.

Umāsvāti in his Tattvārtha Bhāṣya has used the words tarka (reasoning) and uha (logic) as synonyms of second variety of sensuous knowledge, the speculation (Īhā). It was Akalaṅka who first of all offered a logical definition of reasoning. Since then the Jaina logicians have been defining reasoning as an independent organ of knowledge for cognising all such concepts as an universal like that of the concomitance of probandum and probane.
Mīmāṁsakas do not accept Tarka as a separate pramāṇa. The Buddhists also deny its validity on the ground that tarka can only help one to know further an object which is already known through perception. The Naiyāyikas maintain that reasoning is only helpful in removing doubts about concomitance and is not independent organ of knowledge.

The Jaina logicians Akalaṅka recognised reasoning (tarka) as an independent organ of knowledge, since concomitance can not be known without reasoning. If we do not accept the validity of reasoning, we will not be able to accept either, as they both (influence and reasoning) depend on the same basis for their validity as pramāṇas.

(4) Anumāṇa (inference)—The most important method of knowledge is anumāṇa or inference. The Sanskrit word anumāṇa is usually translated as inference. Anumāṇa means a cognition which takes place after some other cognition, specially perception. The Vedic thinkers may have been the first to attempt a definition of anumāṇa and their definition influenced the the Jainas. Jainas hold that anumāṇa is the method of knowing an unperceived object through the perception of a sign (Hetu) recollection of its invariable concomitance with that object.

The Nyāya view is that anumāṇa is a type of secondary knowledge deduced from a prior knowledge. A knowledge of the invariability of concomitance between two things helps to deduce existence of one of them when the other is perceived. Vātsyāyana in his book Nyāyabhāṣya uses the term (अन्विक्षा) ‘anvikṣā’ as synonyms for the word ‘anumāṇa’. ‘Anvikṣā’ literally means knowledge which follows from other knowledge. It is always indirect or mediate knowledge. It is a complex process of knowledge is accepted by all schools of Indian thought except Čārvāka who denies it altogether.

Akalaṅka presents a comprehensive definition of anumāṇa as follows—cognition of sādhyā produced by the sādhana is called Anumāṇa, which follows liṅga-grahaṇa and Vyāpti-Smaraṇa.

Hemachandra defines anumāṇa thus:

साधनं साध्यं विज्ञानम्—अनुमानम्
Anumāṇa is the knowledge of Sādhya from sādhana. Fire is inferred from smoke. Here ‘smoke’ is the sādhana and ‘Fire’ is the Sādhya.

Anumāṇa is based on the universal accompaniment of the probane ‘(Sādhana) by the probandum (sādhyā) in simultaneity or succession,
It is based on Vyāpti derived from induction (tarka), which is the logical ground of inference. In the early Jaina literature, the term ‘avinābhāva’ is frequently used as the equivalent of Vyāpti.

In Jaina philosophy there are two kinds of Anumāna: (1) Svārthānumāna (inference for one’s own self) and (2) Parārthānumāna (inference for the sake of others) or syllogistic inference.

(1) Svārthānumāna consists in the knowledge of the probandum from/probane ascertained by one’s own self, as having the sole and solitary characteristic of standing in necessary concomitance with the probandum. The organs of Svārthānumāna are said to be three in number, viz Sādhya, Sādhana and Pakṣa.

(2) Parārthānumāna is the knowledge of the probandum derived from the statement of the probans having the characteristic of necessary concomitance. Philosophers of different schools hold different views as regards the constitution of syllogism. The Śāmkhya maintains that a syllogism consists of three parts: Thesis (pakṣa), reason (Hetu) and example (dṛṣṭānta). The Buddhist philosopher Ācārya Dignāga also hold these three. The Mīmāṃsakas assert four parts with the addition of application (upanaya). The Naiyāyikas assert five part with the addition of conclusion (nigamana).

The Jaina holds that the thesis and reason constitute syllogism adequate for an intelligent person. Inference for less-intelligent persons, on the contrary, requires a long chain of premises. To teach such persons, the Jainas accept not only are all the five premises of the Nyāya-syllogism but they go even further than this and accept ten-limbed syllogism for such persons.

As regards the aspects of the nature of a hetu (reason), the Buddhists like the Vaiśeṣikas and Śāṅkhya assert that there are three aspects of a hetu viz Pakṣadharmaṭā (presence in the subject), Sapakṣatva (presence in a homologues) and Vipakṣatva (absence from heterologues). The Naiyāyikas accept in addition to the above three, two more aspects of the nature of hetu, viz Abādhita-viṣayatva (absence of counterbalancing hetu) and Asat-Pratipakṣatva. The Jainas criticise all these views of Naiyāyikas and Buddhists. They admit that only the anyathanupopa-
ntva, also called avinābhāva or Vyāpti is the only characteristic of a Valid hetu.

(5) Āgama (verbal testimony) is the fifth type of parokṣa pramāṇas. It is knowledge of objects derived from the words of a reliable person. A reliable person is one, who knows the object as it is and states it as he knows it. Such a person can never tell a lie. He is free from attachment and aversion. His words are in harmony with their objects. They do not contradict the nature of their object. He is called Āpta.

The words of an Āpta are called Āgama. The Jainas believe that their prophets were Āptas and therefore they accepted Āgamas as an independent pramāṇa. They did not restrict the definition of Āpta to the field of spiritual experiences and attainments. An āpta may according to Jaina logicians, be any authority on the subject even if it is only a secular subject.

All Indian Philosophers except the Cārvākas have recognised it as a source of valid knowledge. But there has raged a controversy as to whether it is an independent source of knowledge or merely a case of inference while the rest consider it to be an independent source of knowledge. As a matter of fact it should not be considered as a part of anumāna, since, unlike anumāna it arises without having perceived signs and their concomitance.

According to the Jaina logicians verbal testimony is of two kinds (1) Secular (Laukika) and (2) non-Secular (Lokottara). The Testimony of Janaka and others is secular. Testimony of Tīrthāṅkaras is non-secular.

Conclusion :

Let us now put down in short the points that emerge from this whole discussion. According to the early Jaina Literature, knowledge is divided into pratyakṣa and Parokṣa. Although knowledge is divided as pratyakṣa and parakṣa, yet the words pratyakṣa and parokṣa are used in different sense.

The later Jaina logicians also divided knowledge as pratyakṣa and parokṣa. According to them pratyakṣa is of two kinds, while parokṣa is
of five kinds: Smṛti, pratyabhijñā, tarka, anumāna and āgama. They accepted each of these five kinds of knowledge as separate pramāṇa. But according to Naiyāyikas tarka is only helpful in removing doubts about concomitance and is not independent organ of knowledge. They are not ready to accept memory as an independent pramāṇa. But the Jainas considered both memory and Tarka as a separate pramāṇa. Therein lies the novelty of Jainism.

References:

1. Pramāṇa-Naya-Tattvālokalāmākāra—by Vādi Devasuri.
4. A Primer of Indian Logic—by Kuppuswami Sastri.
THE PHILOSOPHICAL FOUNDATION OF RELIGIOUS TOLERANCE IN JAINISM

Dr. Sagarmal Jain

What is True Religion

The ultimate end in view of all religions is to ensure peace and happiness for the individual and to establish harmony within human society. However, as is known from history, countless wars have been fought in the name of religion. The religion thus remains accused for the inestimable amount of bloodshed of mankind. Of course, it is not the religion but the fundamentalist and hence extremist and rigid outlook of the so-called mea of religion which is responsible for this horrible consequences. At present religion as such is largely shoved into the background or at best used in the service of political ideologies. If one believes that only his Faith, his mode of worship, and his political ideologies are the right means for securing peace and happiness for mankind, then he cannot be tolerant to the viewpoints of his opponents. The immediacy therefore is to develop tolerance to, and friendship for others. It is the only approach by which we can generate peace and harmony inside human society.

Can religion as a category, of which Jainism is a part, meet with this challenge of our times? Before this question can be answered we must make a distinction between a true and a false religion. Because a true religion never supports violence, intolerance and fanatical outlook and it cannot per se be made responsible for the ignominious acts committed in the name of religion by such religious leaders who want to serve their vested interest. The barbarity committed in the past and perpetrated in the present in the name of religion is due very largely to the intolerance and fanaticism of the so-called religious leaders and their ignorant followers.

The only way of freeing oneself from this sordid situation is to comprehend the true nature, indeed to grasp the “essence” of religion.

Paper read at Assembly of the World’s Religions MCA fee New Jesey (U.S.A)
and to develop tolerance toward and respect for other's ideologies and faiths.

For the Jainas, a true religion consists in the practice of equanimity and its foundation is the observance of non-violence. In the Ācārāṅga-sūtra, the earliest Jaina text (c. late 4th cent. B.C.), we come across these two definitions of religion: Equanimity is the essence of religion, while the observance of non-violence is its external exposition or a social aspect of religion. The Ācārāṅga mentions that practising of non-violence is the true and eternal religion.

Jainism, since its inception, believes in and preaches for peace, harmony, and tolerance. It has been tolerant and respectful toward other faiths and religious ideologies throughout its history of existence. In Jainism one hardly comes across instances of religious conflicts involving violence and bloodshed. At most one meets with instances of disputations and strongly worded debates concerning ideological disagreements. The Jaina men of learning, while opposing the different ideologies and religious standpoints, fully paid regard to them and accepted that the opponents' convictions may also be valid from a certain standpoint.

**Intense Attachment, the root of intolerance**

Among the causes that generate fanaticism and intolerance the blind faith is the principal; it results from Passionate attachment and hence uncritical or "unexamining" outlook. Attachment (mūrchā) according to the Jainas, is the cause of bondage. It causes perverse attitude. In Jainism various types of attachment are enumerated; among them darśana-mohajdrṣṭirāga (blind faith), due to its very disposition, has been reckoned "paramount". In point of fact it is considered central in religious intolerance. It leads one's attitude toward a strong bias for one's own, and against other's religion. Non-attachment is therefore considered as a pre-condition for the right attitude or perception. A perverse, and hence defiled attitude renders it impossible to view the things rightly, just as a person wearing coloured glasses or suffering from jaundice is unable to see the true colour of objects as they are. "Attachment and hatred are the two great enemies of philosophical thinking. Truth can reveal itself to an impartial thinker."

Non-attachment, as
Jainas hold, is not only essential, it is imperative in the search of truth. One who is unbiased and impartial can perceive the truth of his opponents's ideologies and faiths and thus can possess deference to them. Intense attachment unfailingly generates blind faith in religious leaders, dogmas, doctrines and rituals and consequently religious intolerance and fanaticism come into existence.

Jainism holds that the slightest even pious attachment, towards the prophet, the path, and the scripture is also an hindrance to a seeker of truth and an aspirant of perfection. Attachment, be it pious or impious, cannot be without aversion or repulsion. Attachment results in blind faith and superstition and repulsion consequences into intolerant conduct. The real bondage, as Jainas confirm, is the bondage due to attachment. A person who is in the grip of attachment cannot rid of imperfection. Gautama, the chief disciple of Lord Mahāvīra, failed to attain omniscience in the lifetime of Mahāvīra on account of his pious attachment towards Mahāvīra. So is the case with Ānanda, the chief disciple of Lord Buddha, who could not attain arhatthood in the Life-time of his “Śāstā”. Once Gautama asked Mahāvīra: “Why am I not able to attain the perfect knowledge while my pupils have reached that goal?” Lord answered ‘Oh: Gautama; it is your pious attachment towards me which obstructs your getting perfect knowledge and emancipation.’ The Jainas therefore laid stress on the elimination of attachment, the root-cause of bias and intolerance.

Reason, The check-post of blind faith

Though in Jainism right faith plays an important role—it is one of its three “jewels”—it is the blind faith, which causes intolerance. Jainism therefore does not support blind faith. Jaina thinkers maintain that the right faith should be followed by right knowledge. The faith seconded by right knowledge or truthful reasoning cannot be blind one. According to Jaina thinkers, reason and faith are complementary and there actually is no contention between the two. Faith without reason, as the Jaina thinkers aver, is blind and reason without faith is unsteady or vacillating. They hold that the religious codes and rituals should be critically analysed. In the Uttarādhyayana-sūtra, Gautama, the chief disciple of Mahāvīra strongly supports this view before Keśī, the pontiff of the church of Jina
Pārśva. Said he: "the differences in the Law must be critically evaluated through the faculty of reasoning. It is the reason which can ascertain the truth of Law".  

If one maintains that religion has to be solely based on faith and there is no place for reason in it, then he will unfailingly develop an outlook that only his prophet, religion, and scripture are true and others’ prophets, religions and scriptures are false. He will also firmly believe that his prophet is the only saviour of mankind; his mode of worship is the only way of experiencing the bliss and the Laws or Commands of his scripture are only the right one and thus he remains unable to make a critical estimate of his religious prescriptions. While one who maintains that the reason also plays an important role in the religious life, will critically evaluate the pros and cons of religious prescriptions, rituals and dogmas. An "attached" or biased person believes in the dictum ‘Mine is true’. While the detached or unbiased person believes in the dictum ‘Truth is mine’.

Gūḍaratnasūri (early 15th cent. A. D.) in his commentary on the Ṣaḍdarśana-samuccaya of Haribhadrasūri (c. 3rd quarter of the 8th cent. A. D.) has quoted a verse, which explains: "A biased person tries to justify whatever he has already accepted, while an unprejudiced person accepts what he feels logically justified." Jainism supports "rational thinking". For supporting the rational Jaina outlook in religious matters Ācārya Haribhadra says; "I possess no bias for Lord Mahāvīra and no prejudice against Kapila and other saints and thinkers! whosoever is rational and logical ought to be accepted". While describing the right-faith Amṛtacandra (c. early 10th cent. A. D.) condemns three types of Idols, namely superstitions relating to deities, path, and scriptures." Thus, When religion tends to be rational, there will hardly be any room for intolerance. One who is thoroughly rational in religious matters, certainly would not be rigid and intolerant.

Non-absolutism—The Philosophical Basis of Tolerance

Dogmaticism and fanaticism are the born children of absolutism. An extremist or absolutist holds that whatsoever he propounds is correct and what others say is false, while a relativist is of the view that he and his opponent both may be correct, if viewed from two different angles
and thus a relativist adopts a tolerant outlook towards other faiths and ideologies. It is the doctrine of anekāntavāda or non-absolutism of the Jainas on which the concept of religious olerance is based. For the Jainas non-violence is the essence of religion from which the concept of non-absolutism emanates. Absolutism represents “violence of thought”, for, it negates the truth-value of its opponent’s view and thus hurts the feeling of others. A non-violent search for truth finds non-absolutism.

Jaina thinkers are of the view that reality is a complex one. It has many facets, various attributes and various modes. It can be viewed and understood from different angles and thus various judgements may be made about it. Even two contradictory statements about an object may hold true. Since we are finite beings, we can know or experience only a few facets of reality at one time. The reality in its completeness cannot be grasped by us. Only a universal-observer-Sarvajña can comprehend it completely. Yet even for an Omniscient it is impossible to know it and to explain it without a standpoint or viewpoint. This premise can be understood from the following example. Take it granted that every one of us has a camera for photographing a tree and we all use it. We can have hundreds of the photographs but still we find most portion of the tree photographically remains uncovered, and what is more, the photographs differ from each other unless they are taken from the same angle. So is the case with diversified human understanding and knowledge. We only can have a partial and relative view of reality. It is impossible for us to know and describe the reality without an angle or viewpoint. While every angle or viewpoint can claim that it gives a true picture of reality, each one only gives a partial and relative picture of reality. On the basis of partial and relative knowledge of reality one can claim no right to discard the views of his opponents as totally false. According to Jaina thinkers the truth-value of opponents must be accepted and respected.

Non-absolutism of the Jainas forbids the individual to be dogmatic and one sided in approach. It pleads for a broader outlook and an open mindedness, which alone can resolve the conflicts that emerge from differences in ideologies and faiths. Satkari Mookerjee rightly observes that Jainas do not believe in the extremist a priori logic of the absolutists.
Pragmatically considered, this logical attitude breeds dogmatism and if carried a step further, engenders fanaticism, the worst and the vilest passion of human heart”. For non-absolutism the views of the opponent are also true. Remarks Siddhasena Divakara (5th Cent. A.D.) “All schools of thought are valid when they are understood from their own standpoint and insofar as they do not discard the truth-value of others. The knower of non-absolutism does not divide them into the category of true and false. They become false only when they reject the truth-value of others.” It was this broader outlook of non-absolutism which made Jainas tolerant.

While expounding this tolerant outlook of the Jainas, Upādhya Yaśovijaya (17th cent. A. D.) mentioned “A true non-absolutist does not disdain to any faith and he treats all the faiths equally like a father to his sons. For, a non-absolutist does not have any prejudiced and biased outlook in his mind. A true believer of nyādvyāda (non-absolutism) is that who pays equal regards to all the faiths. To remain impartial to the various faiths is the essence of being religious. A little knowledge which induces a person to be impartial is more worthwhile than the unilateral vast knowledge of scriptures.

**Non-Personalism, A Keystone for Tolerance**

It is the person-worship which makes the mind biased and intolerant. Jainism opposes the person-cult. For the Jainas, the object of veneration and worship is not a person but perfectness i.e. the eradication of attachment and aversion. The Jainas worship quality or merit, not the person. In the sacred namaskāra-mantra of the Jainas, veneration is offered to the spiritual-posts such as arhat, siddha, ācārya and not the individuals like Mahāvīra, Rṣabha or anybody else. In the fifth pada we find that the veneration is paid to all the saints of the world. The words’ loye’ and ‘Savva’ demonstrate the generosity of the Jainas. It is not the person but his spiritual attitude which is to be worshipped. Difference in name, according to the Jainas, is immaterial since every name at its best connotes the same spiritual perfection. Haribhadra in the Yogadrṣti-samuccaya remarks that the ultimate truth transcends all states of worldly existence, called nirvāṇa and is essentially and necessarily “single” even if it be designated by different names like Sadāsiva, Parabrahman, Siddhātmā, Tathāgata etc.
but etymologically also they convey the same meaning. In the Loka-
tattva-nirñaya he says I venerate all those who are free from all vices and
adorned with all virtues, be they Brahmā, Viṣṇu, Śiva or Jina. This
view is further supported by various Jaina thinkers of medieval period
such as Akalaṅka, Yogindu, Mānatunga, Hemacandra and many others.
While worshipping Lord Śiva the Jaina pontiff Hemacandra says: “I
worship those who have destroyed attachment and aversion which are
the seed of birth and death, be they Brahmā, Viṣṇu, Śiva or Jina.”
It is important that though Hemacandra was a Jaina-saint, he composed
a hymn in praise of Śiva. This liberalism is also maintained by latter
Jaina-saints, who composed their works in Hindi or Gujarati like Ānand-
daghana and many others, till these days. In a Hindi couplet J. K.
Mukhtar (20th cent.) says:

Buddha vīra Jina Harihars Brahmā yā usako svādhīna kaho /
Bhakti bhāva se prerita ho, yaha citta usi me līna raho //

The Door of Liberation open to All

Jainism holds that the followers of other sects can also achieve ema-
ncipation or perfection, if they are able to destroy attachment and aver-
sion. The gate of salvation is open to all. They do not believe in the
narrow outlook that “only the follower of Jainism can achieve emanci-
pation, others will not.” In the Uttarādhyayana there is a reference to
anyaliṅga-siddhas, i.e. the emancipated souls of other sects. The only
condition for the attainment of perfection or emancipation, according
to the Jainas, is to shun the vectors of attachment and aversion. Hari-
bhadra, a staunch advocate of religious tolerance, remarks: “One, who
can attain equanimity of mind will for certain get the emancipation whether
he may be a Śvetāmbara or a Digambara or a Buddhist or any one
else.” It is this broad outlook of the Jainas which makes them tolerant
and stick to the non-violence of thought.

About the means of liberation, the Jainas are also broad minded. They
do not believe that their mode of worship or their religious prac-
tices alone represent the way to reach the goal of emancipation. For them
it is not the external modes of worship, but the right attitude and men-
tal purity which makes religious practices fruitful. The Acārāṅga-sūtra
clearly mentions that the practice which are considered to be the cause
of bondage may be the cause of liberation also. It is the intrinsic purity not the external practices, which makes the person religious. Haribhadra propounds that neither one who remains without clothes nor one who is white clad, neither a logician, nor a metaphysician, nor a devotee of personal cult will get liberation unless he overcomes his passions. If we accept the existence of the diversity of modes of worship according to the time, place and levels of aspirants and lay stress on the intrinsic purity in religious matters, then certainly we cannot condemn religious practices of others as false. This liberalism of the Jainas on the methods of worship can be supported by the legends of the previous lives of Mahāvīra. It is said that Mahāvīra, in his previous existences, was many times ordained as a monk of other sects, where he practised austerities and attained heaven.

As for scriptures, the Jainas' outlook is likewise liberal. They firmly believe that a false scripture (mithyā-śruta) may be a true scripture (samyak-śruta) for a person of right attitude; and a true scripture may turn false for a person of perverse attitude. It is not the scripture but the attitude of the follower which makes it true or false. It is the vision of the interpreter and practitioners that counts. In the Nandīsūtra this standpoint is clearly explained. Thus we can say that the Jainas are neither rigid nor narrow minded in this regard.

References of Religious Tolerance in Jaina Works

References to religious tolerance are abundant in Jaina history. Jaina thinkers have consistently shown deference to other ideologies and faiths. In the sūtrakṛtānga, the second earliest Jaina work (c. 2nd cent. B. C.), it is stated that those who praise their own faith and view and disparage those of their opponents, possess malice against them and hence will remain confined to the cycle of birth and death. "In another famous Jaina work of the same period, the Isibhasiyāṁ, the teaching of the forty five renowned saints of Śramanical and Brāhmanical schools of thinking such as Nārada, Bhāradvāja, Gautama Buddha, Maṅkhalī-Gośāla and many others have been presented with regard. They are remembered as arhatānsi and their teachings are regarded as an āgama. In the history of world religions there is hardly any example in which the teachings of the religious teachers of the opponent sects were included
in one's own scriptures with due esteem and honour. Evidently, it indicates the latitudinarian and unprejudiced outlook of the earliest Jaina thinkers. We also have a reference to religious tolerance in the Vākyā- 
prajñāpti, one of the early works of the Jainas. When an old friend of 
Gautama, who was initiated in some other religious sect, came to visit 
him, Mahāvīra commanded Gautama to welcome him and Gautama did 
so. In the Uttarādhayāyana, it is stated that when Gautama, the chief 
disciple of Mahāvīra and Keśi, a prominent pontiff of Pārvanātha’s sect 
met at Kosāmbi, both paid due regard to each other and discussed the 
various problems dispassionately and in gentle and friendly manner 
about the differences of both the sects.

Haribhadra has not only maintained this latitudinarian outlook of 
earlier Jainācāryas, but lent new dimension to it. He was born in the 
age when the intellectuals of the India were engaged in hair-splitting 
philosophical discussions and in relentless criticism of one other. Though 
he also critically evaluated the other philosophical and religious systems, 
his outlook was fully liberal and attempted to see the truth of his 
ponent's logic also. Here I would like to mention only a few examples 
of his religious tolerance and regard for others ideologies and faith.

In the Sastravarta-samuccaya, which is one of the foremost works 
illustrating Haribhadra’s liberal outlook, it is mentioned that the great 
saint, venerable Lord Buddha preached the doctrines of momentariness 
(kṣaṇikavāda) non-existence of soul (anātmavāda) idealism (vijñānavāda) 
and nothingness (sūnyavāda) with a particular intention to vanish the 
'mineness' and desire for worldly objects and keeping in view the different 
levels of mental development of his followers, like a good physician who 
prescribes the medicine according to the disease and nature of the patient. 
He has the same liberal and regardful attitude toward Sāmkhya and Nyāya schools of Brähmanical philosophy. He maintains that naturalism (Prakṛtiwāda) of Sāmkhya and Īśvara kartritavāda of the Nyāya 
school is also true and justified, if viewed from certain standpoint. 
Further, the epithets such as the great saint (mahāmuni), the venerable 
(arhat), the good physician (suvaidyā) used by him for Buddha and for 
Kapila shows his generosity and deference to other religious leaders. 
Haribhadra's crusade against sectarianism is unique and admirable in 
history of world-religions.
Along with these literary evidences there are some epigraphic evidences of religious tolerance of the Jainas. Some Jainā acāryas such as Rāmkīrti and Jaymaṅgalasūri wrote the hymns in the praise of Tokalji and goddess Cāmunḍā, Jainī kings such as Kumārājī, Viṣṇuvardhan and others constructed the temples of Śiva and Viṣṇu along with the temples of Jina.  

Finally, I would like to mention that Jainism has a sound philosophical foundation for religious tolerance and throughout the ages, it practically had remained tolerant and regardful to other faiths and ideologies. Jainas never indulged in aggressive wars in the name of religion nor did they invoke divine sanction for the cruelties against the people of alien faiths. Though generally Jainas do classify religions in the heretic (mithyā-dṛṣṭi) and non-heretic (samyak-dṛṣṭi). Yet, mithyā-dṛṣṭi, according to them, is one who posses one-sided view and considers others as totally false. While samyak-dṛṣṭi is the one who is unprejudiced and sees the truth in his opponents views also. It is interesting to note here that Jainism calls itself a union of heretic views (micchādaṁsa-samūth) Siddhasena (5th cent. A.D.) mentions “Be glorious the teachings of Jina which are the union of all the heretic views i.e. the organic synthesis of one-sided and partial views, essence of spiritual nectar and easily graspable to the aspirants of emancipation.”

Anandaghana, a mystic Jainī saint of the 17th cent. A.D. remarks that just as ocean includes all the rivers so does Jainism all other faiths. Further he beautifully expounds that all the six heretic schools are the organs of Jina and one who worships Jina also worships them. Historically we also find that various deities of other sects are adopted in Jainism and worshipped by the Jainas. Ācārya Somadeva in his work Yaṣastilak-campū remarks that where there is no distortion from right faith and accepted vows, one can follow the traditions prevailing in the country.

Jainas believe in the unity of world religions, but unity, according to them, does not imply omnivorous unity in which all lose their entity and identity. They believe in that unity in which all the alien faiths will conjoin each other to form a organic whole without losing their own independent existence. In other words it believes in a harmonious
co-existence or a liberal synthesis in which all the organs have their individual existence, but work for a common goal i.e. the peace of mankind. To eradicate the religious conflicts and violence from the world, some may give a slogan of "one world religion" but it is neither possible nor practicable so far as the diversities in human thoughts are in existence. In the Niyamasāra it is said that there are different persons, their different activities or karmas and different levels or capacities, so one should not engage himself in hot discussions neither with other sects nor one's own sect.

Haribhadra remarks that the diversity in the teachings of the sages is due to the diversity in the levels of their disciples or the diversity in standpoints adopted by the sages or the diversity in the period of time when they preached, or it is only an apparent diversity. Just as a physician prescribes medicine according to the nature of patient, its illness and the climate so is the case of diversity of religious teachings. So far as diversity in time, place, levels and understanding of disciples is inevitable, variety in religious ideologies and practices is essential. The only way to remove the religious conflicts is to develop a tolerant outlook and to established harmony among them.

At last I would like to conclude my paper by quoting a beautiful verse of religious tolerance of Ācārya Amitagati—

Sattvesu maitriṃ guṇisu pramodaṃ
Kliṣṭesu jīvesu kṛpāparatvam
Mādhyaśthyaḥbhāvaṃ viparīta vrattau
Sadā mamātmā vidadhātudeva.

Oh Lord! I should be friendly to all the creatures of world and feel delight in meeting the virtuous people. I should always be helpful to those who are in miserable conditions and tolerant to my opponents.

References

2. Se bemi je aiyā, je ya paduppanā, je āgamissā arahaṃtā bhagavaṃto te savve evamāikkhaṃti. . . . savve pāṇā . . . na haṃttavvā . . . esa dhamme suddhe, nie sāsae...; —Ācārāṅga, 1-4-1.
4. (a) Bhagavati-Abhayadeva's vṛtti, 14/7. p. 1188, Rśabhadeva keśarimal, Ratlam, 1937.

(b) Mukkhamagga pavannānaṁ sinheho vajjasimkhalā vire Jīvāntae jāao Goyamāṃ jaṭ na kevali—Quoted in Abhidhāna Rājendra, vol. II, p. 959 and Kalpasūtra tīkā-Vinayavijay, 127, p. 120.

5. Pannā samikkhae dhammaṁ /
tattaṁ tatta viñcchayaṁ //


6. Āgrahibata niniṣati yuktir yatra tatra matirasya nivīṣṭā /
Pakṣapāṭaraḥtasya tu yuktiryatra tatra matireti nivesaṁ //


8. Loke sāstrabhāse samayabhāse ca devatābhāse
nityamapi tattvarucina kartavyamamūḍhadṛṣṭītvam // 26

—Puruṣārtha saddhyupāya—Amaratandra

9. Anantadharmātmakameva tattvaṁ... / 22

—Anyayogavyavacchedadvātrimśikā—Hemacandra.


—Āvaśyaka Niryukti, 544.


12. Niyayavayaṇijjasaccā, savvanayā paravijālaṇe mohā /
Te uṇa na diṭṭhasamao vibhayai sacca va aliye vā //


13. Yasya sarvatra samatā nayeṣu tanayeṣviva /
tasyaṇekāntavādasya kva nyūnadhikaśeṣu //
Ten a syādvādamālaṁbya sarvadarśanatulyatām /
mokṣoddeśāvi (dvi) ṣeṣena yaḥ paśyati sa sāstravī // 70 //
Mādhyasthāyameva sāstrārtho yena taccāru siddhyati /
sa eva dharmāvadaḥ syādanyadbāliśavalganam // 71 //
The Philosophical Foundation of Religious Tolerance in Jainism

Mādhyasthyasahitam hyekapadajñānamapi pramāṇa/
Śastrakoṭiḥ vrthaiivānya tatha coktaṁ mahātmanā // 73 //

—Adhyātmapanīṣat—Yaśovijaya, Śrī Jainadharmaprasāraka Sabhā,

14. Nāmo Arahaṁtānam / Nāmo siddhānam / Nāmo Āyariyānam / Nāmo
uvajjhayānam / Nāmo Loye Savva Sāhūnam /
—Vyākhya prajñapti, 1/1 Mahāvira Jaina Vidyālaya, Bombay.

15. Sadāśivaḥ paramaḥ brahma siddhātmā tathateti ca /
Śābdaistad ucayate’nvarthād ekam evaivamādibhiḥ // 130 //

—Yogāṭṣṭisamuccaya—Haribhadra, Lālhāi Dālapatabhāi

16. Yasyanikhilāca doṣa na santi sarve guṇāśca vidyante /
brahmā vā viṣṇurvā haro jino vā namastasmai // 40 //

—Lokattavaniṁnaya—Haribhadra—Sri Jainagrantha prakāśaka

17. Bhavabijāṅkurajananā rāgadvāh kṣayamupāgatāyasya /
Brahmā vā viṣṇurvā haro jino vā namastasmai //

—Mahādeva stotra, 44 (Published in Paramārṣa Śvādhyāya Grantha
Samgraha).

18. Itthi purisasiddhā ya, taheva ya napumṣagā / salimge annalimge ya
ghilimge taheva ya / —Uttarādhyayana, 36 / 49.

19. Seyambaro vā śambaro vā, buddho vā taheva anno vā /
Samabhāvabhaviyappā lahai mukkhām na samdeho //

—Haribhadra, Quoted in Jainā, Baudhā aur Gītā kā Ācāradarāśana,


21. Nāsāmbaratve na sitāmbaratve, na tarkavāde na ca tattvavāde /
na pakṣasevāśrayena mukti, Kaśaya mukti kila muktireva //

—Upadesataraṅgini, 1 / 8, p. 98, Haribhadra, Bhūrbhāi Harṣacandra,
Vārāṇasi, V. S. 2437.

22. (a) Chassu vi pārivvaţjam... /
Viśeṣeṇāvyakabhāṣya, 1792, L. D. Institute of Indology, Ahmedābād
9, (1968).

(b) See also—Uttarapurāṇa—Gūnabhādra, 74 / 69-85, pp. 448-49.

23. Eyāṁ micchadiṭṭhisva micchattapariggaḥiṣyāṁ micchasuyāṁ, eyāṁ ceva
sammaddiṭṭhisva Sammattapariggaḥiṣyāṁ, sammasyayāṁ, ahavā micchadiṭṭhisva ‘sammasuyā’,
Kamhā? Sammattabheuttaṇaño, Jamhā te
micchadiṭṭhiyā, tehiṃ ceva samaehiṃ coiyā samāṇā kei, sapakkhaṭṭhihio vameti, se ttaṃ micchasuyām.


24. Sayam sayam pasamsamta, Garahaṃṭā paraṃ vayaḥ /
je u tattha viussamti, Samsāram te viussiyā //

—Sūtrakṛtāṅga, 1 / 1 / 2 / 23.

25. Devanāradena Arahata isiṇā buiyam / —Isibhāsiyāim, 1 / 1. See also the names of its various chapters, edited by Dr. Walther Schubring, L. D. Inst. of Indology, Ahmedābād-9, 1974.


27. Kesikumāra samane goyamaṃ dissamāgayam /
padīrūvaṃ padīvatīṃ sammaṃ sampadūvaṃjai //

—Uttarādbhayān śutra, 23 / 16, Sanmati Jñānāṭhahā, Āgrā, 1st Ed.


29. Ibid. 3 / 207 and 3 / 237.


36. Sāmāyika Paṭha 1-Amitagati. Published in Sāmāyikasūtra, sanmati Jñānapīṭha, Āgrā.
RELIGION OF MAN

Jagdish Sahai

Modern Man is so self-conceited that he considers it sheer waste of time to pause and think what he is, what this universe (of which he is just a part) is, and what relation he has with the Creator of this universe? These are all fundamental questions. So long as man refuses to think accurately over these things he cannot build a safe, strong, and sure edifice for his thoughts that can give him a clear perception of the goal towards which he must move. Because of this lack of understanding over the fundamentals of life itself, man has created more problems for himself than he has solved. Never was there such longing for world peace as today. In spite of the achievements in the scientific and other fields of human knowledge, man has failed to preserve his own dignity and integrity. Man’s ‘inhumanity’ towards man still makes countless thousands miserable. It must be brought home to man that he is essentially a Spiritual being and that a society based on a materialistic conception of the universe is, like an inverted cone, in unstable equilibrium. Spiritual values alone give meaning and purpose to human life.

Man’s life should be viewed as a whole. It is wrong to divide it into different compartments such as religious, social, political, and economic, as if each compartment is independent of the other. It is often said that religion is a personal matter between man and his Maker. And it is also said that a Secular State has nothing to do with religion. Both these views are fallacious. Religion is not purely a ‘private’ affair. One is just on the path of religion when one begins to act in an impersonal way. Religion is and always shall be a Vital fact in man’s life. A secular state will not be a Truly welfare State if its energies are not directed towards the raising of the spiritual solidarity and the moral tone of the people it governs. The destiny of Nations has over centred round the Character of individual men and women. Demoralization and degradation of character have preceded Disintegration of every civilization. A student of history knows that all the wealth and power of Western civilization did not save degenerate Rome. Character is the essence of Religion.
Essential Unity of All Religions

What is man's religion? In answer to this question we find numerous Faith and Philosophies prevalent in the different communities of mankind. Just as Nature everywhere is One, but there is Diversity in it, even so Humanity throughout the world is one although every man differs from the others both in thought and conduct. In spite of this obvious diversity, we find that it is a common but powerful desire of man to conform to a particular mode of behaviour in the world. Incarnations, saints, prophets, seers, and sages have appeared in different parts of the world from time to time in order to teach men *How to behave in harmony* with the underlying spirit of the Cosmos. These great souls, on the basis of personal experience, expounded the essential ideas and values in life and taught how these can be achieved. Their spiritual thought and teachings from the subject-matter of the scriptures and philosophies of the different Faths. In addition to their moral and spiritual teachings, almost all the religious teachers and reformers of the world gave out a plan and a system of their own on which human society would best be organized. It was thus that every faith helped to establish customs and conventions, with rites and rituals, amongst the communities of mankind and gave birth to a particular type of civilization and culture which naturally differed from the others.

Although everyone, after studying the scriptures of the various faiths, can find out for oneself the essential unity underlying them all, the differences in their respective customs and conventions also become equally patent and obvious. For this reason, we often find that the followers of one faith harbour feelings of hatred towards those of other faiths. Every man considers his own religion to be not only right but superior to those of others. If a man, leaving aside the difference due to customs and conventions, were to try to grasp and live up to those spiritual truths that are essential to him for reaching the ultimate goal *Which is common to all humanity*, he is bound to love and extend full tolerance towards the followers of other faiths. Every religion, no matter of whatever label, can take man to this common goal. Therefore, all those who fight in the name of religion do not, in fact, understand what religion is. They stultify themselves by becoming victims of their one selfish, sectarian, and bigoted thoughts and actions. Man should ever
remember that he is a member of the Human family first and foremost and thereafter a follower of this or that religion. Religion is the Way of life that leads man to his ultimate goal. Since there is Uniformity in the Spiritual teachings of all religions, it is up to man to act in accordance with them in his life. Human life is replete with experiences—both good and bad—which go to make up man’s fund of knowledge. Religion too is a matter of experience, resulting in the consciousness of the Highest Truth in which all that exists finds its ultimate refuge.

Three Fundamental Principles

If one probes into the ultimate Truth one will find that the essential teachings of all religions are the same, though they have been expressed in different words. This Truth is the true Religion of Man. Its foundations have been laid on the following three fundamental principles:

(1) Be good and do good—this will make for Character.

(2) Develop non-attachment and unselfishness—this will make for Personality. An integral personality has to be built up on the sound foundation of Self-sacrifice.

(3) To acquire Supreme Knowledge is man’s highest privilege; in fact, it is his ultimate goal. This will give him Freedom; it will make him One with the all-informing universal Spirit, also called ‘God’.

To acquire such knowledge is to develop that consciousness in man which alone can give him a complete answer to the Whys and Wherefores of life on earth, viz., why a man takes birth and what is his ultimate goal? This will also solve for man the mystery of God and creation.

The above principles can be briefly amplified as under:

‘To work you have a right but not to the fruit thereof’, because you have no control over the latter. Man is free to act; he can act as he likes, but the fruit of his actions is not in his hands or within his power. Actions of one individual react on the actions of other individuals and vice versa. The inevitable effect of action and reaction is always there and willy-nilly we are mutually affected by it. Man’s actions do not cease to be effective till they have borne fruit. No power of Nature can stop an action from bearing its fruit. There are some actions which bear fruit instantaneously. If the hand is put into the fire it will get burnt.
There are other actions which bear fruit after a period of time has elapsed. When a man takes physical exercise its fruit will result after some time. Even so it is possible that we may not get the fruit of many of our actions in our present life and have to reap them in our next life. Just as the wind, on its onward march from one place to another, takes with it the resultant of both the sweet and bad odours through which it has passed, in the same manner a man’s Ego, at the time of death, leaves the physical body, taking with it the final outcome of his thoughts, actions, experiences, and will, acquired during the life that has just ended enter another body and start on a new chapter of life’s journey with the former life’s character-load as the starting point.

The way to Right Action

Man and his actions are inseparable. Man must work in order to live. But how? A man should work without any selfish motive. He should be as self-less in his conduct as possible. This will help him in developing non-attachment. Selfless work is that which a man does without any motive of selfish and personal profit. All actions which go to gratify the ‘I-ness’ or the finite individuality of man are doubtless selfish. When man is deluded by the selfish thoughts of ‘I’ and ‘mine’, he becomes a slave to lust, anger and greed which impel him to commit the meanest of actions. The thought of depriving others of all wealth and power and bringing them under his possession, will dominate his whole life. But self-less service connotes impersonal action. In doing such impersonal action man sees his own good in the good of others. By working in this spirit he identifies himself with all other beings of the universe and does not consider the reality of their existence apart from himself. On the other hand, he feels that like all other beings he too is a part and parcel of the universe as a whole. Therefore, whatever action contributes to the good of the whole becomes a right action for him. Every action of his is done for the good of the whole and not for his personal individual self.

Who is the Doer of Action?

Man being the essential part of Nature, works according to the nature within him. The soul of man, embodied in a human form, apparently limited by the initial character-load and the chain of individual experiences ordained by the Law of Karma (or the law of Cosmic Moral Order which affirms “as man sows so he reaps”) strives to realize, during
the course of several lives, the Real state of its Oneness with the
Pure soul. Man's nature no doubt influences his body and mind in
accordance with the character-load with which he starts on his life's
journey. But his mind is endowed with such wonderful powers of discrimi-
ination and dispassion that through his own strong will he can subdue
his lower nature and refuse to allow the mind to become its slave. Man
is Divine and is not confined to his body and mind alone. He partakes of
the Infinite. Religion embraces the whole of life which is consecrates
and realizes as a revelation of the Divinity in man. It is the from and
substance of the highest type of life of which man is capable.

Duty and Service

It is through action that man reveals his True self. All action
is Duty, for it must be performed. But one ought not to do any work
under a sense of Compulsion. All work should be done with the
conviction that it will do good to the whole of humanity. Let duties be
sweetened with all-embracing love. One should be earnest in whatever
one does and should not give any place to self-interest. Man should
work for work's sake. This will make him unselfish. An action which
is done under a sense of compulsion is devoid of free will, and a certain
sense of pain results from its performance. Whatever duties a man is
privileged to perform by virtue of his position in the scheme of life he
should render them intelligently and diligently. Duties performed in a
spirit of devotional love and service give man a wonderful experience of
bliss which keeps him always cheerful. Performance of action in this
manner is the most effective means of rendering real service to mankind.

Self-Abnegation in Service

Gradually an individual should widen his circle of service till he
serves humanity. He should not expect any return for his service, for,
service of fellow beings is service of one's own self. This is true sacrifice.
A person should ever enhance the limits of his service according to capa-
city. First comes the service of one's parents and those who are nearest
to oneself; then of one's family and friends; then of fellow citizens and
the community and the country, and ultimately of all mankind irrespec-
tive of any divisions. In rendering service, a person should always be
particular to see that he is not doing it for the sake of more name and
fame or in expectation of any return. 'Do good and forget it with its performance.' This principle will make selfless service possible. When man begins to see his own good in the good of others, performance of selfless service becomes the prime duty of everyone. In the very act of serving others man forgets his little self. This is true self-sacrifice.

**What is Self?**

Mistaking the *Body* for the *self* lies at the root of all misery from which humanity has so far been suffering. This is responsible for creating insatiable desires in man, which breed dissensions, distrust, enmity, and all the evils and troubles that man is heir to in both his individual and corporate capacities. As fire cannot be quenched by pouring oil over it, which will make it burn all the more fiercely, the sensuous desires of the flesh only increase all the more by being gratified through self-indulgence. This is not the path of happiness. It brings only pain and misery. Happiness, bliss, and peace are attainable through spiritual realization, sublimation of desires, and the annihilation of that delusion which presents the gross body as the *self*. He who can merge his conditioned and limited self into the all-pervading universal Self, is truly happy in this world. Such a man alone can be the friend of all, the servant of all. None can set a limit to one's love for humanity except one's own pet sympathies and narrow predispositions. The highest catholicity and the utmost capacity for selfless service can exist side by side in the same individual. A society also can be constructed on such lines, for society is but an aggregate of individuals.

A man's interest can never be confined to the body alone. His Self, in fact, comprehends the whole universe as One with himself, because there is no meaning in considering man's existence Apart from the *Cosmos* as a whole. When he detaches his individual self from bodily attachments, he will comprehend the 'whole'. To comprehend the 'whole' is to *Love* one and all without distinction. In other words, it is to realize oneself in the 'whole' and the 'whole' in oneself. Truly, the word 'I' connotes not the individual little self but the omnipresent Soul or Self. The Self or Soul is one and the same in every being; so the 'I' cannot be more than one. Hence the individual soul is not apart from the real Self.
The Ideal of True Love

The realize this Self one must love all. Selfless love, with infinite sympathy, will overcome all objective and physical limitations. For, love is the unifying force which binds not only man to man but also man to the universe and to his Maker. The love of a nurse-maid towards another’s child she is in charge of, is of the unattached and unselfish kind. She feeds the child, loves it, plays with it, and is all kind towards it as if it is her own child. But, on being dismissed from service, she leaves the child, given up all attachment to it, and is ever willing to take service elsewhere and nurse another child. Similarly should one in the world behave in respect of all the things which one considers one’s own and feels called upon to love and serve. Even as the nurse-maid looks after another’s child in a spirit of non-attachment, keeps it safe and sound under her custody as a trust, and serves it with all the love she is capable of bestowing on it, so also should men learn to live and act with a deep sense of detachment, selfless love, and generous service and to view everything in our possession as a worthy trust from the Divinity, which we call God, remembering, at the same time, that HE can deprive us of anything when he so chooses and that we should not then feel pain or misery at the thought of loss or separation.

Pleasure and Pain and their Cause

Attachment brings transient waves of pleasure and pain. When our relation with other things is characterized by physical and sensuous attachment, and we, for some reason or the other, fail to obtain those things, we feel pain. If we obtain them, we feel pleasure. But such pleasure or pain lasts for a short while only. It is not and cannot be permanent. For, all the material things of the universe with which we get attached are, by their very nature, perishable. Therefore, the pleasure or pain that we derive by our attachment to the material objects of this universe fades away within a short time. However, from this transient experience of pleasure and pain, man learns the great truth of life which leads him towards real knowledge. In all living beings, and especially in man, there exists an intense desire for permanent pleasure or happiness. And a time comes in the life of every man when he begins to realize the unreality and transitoriness of pleasure and pain. Then he understands that by attachment to material things he can never get permanent happiness, and that if he seeks spiritual union (Yoga) with
that immortal Life-Force called God, who is the changeless one in this over-changing world of many, he can attain to that state of permanent happiness for which his whole being is constantly yearning. This state of permanent happiness or Bliss Absolute (Brahmananda) is the same as living in tune with the infinite.

In Salvation Lies Bliss

Unselfish work leads to purity of heart (Citta-Suddhi) and this in turn to Spiritual Freedom through elimination of the individual Ego. This is salvation or Self-realization or God-realization. In salvation lies the highest freedom and bliss; on attaining it, the individual's Ego dissolves completely and he becomes a Free Soul (Jivann-mukta) who has achieved the one thing which is permanent and imperishable. When a man becomes unattached and unselfish, his actions do not Force Fresh Shackles of Karmic Bondage. Such performance of action and devotion to God leads the individual to the blissful state of salvation which is beyond words.

Universal Goodness Constitutes the Religion of Man

To acquire this blissful state one has to act incessantly and lovingly. Every action needs to be tested on the Touchstone of universal goodness and Moral Worth. Any action which is right in accordance with Truth and Justice contributes to the awakening in man of universal goodness. Universal goodness is in itself elevating, and whatever elevates ennobles is Man's Religion. Elevation in every aspect of life forms the Basis of the whole science and art of Religion—elevation from ignorance to full knowledge, from the confined Ego-state to the Free-state of the Soul. It is the process of Man going back (Nivritti) by conscious and determined effort, to the Original Source from which he has sprung. This one process is named variously by different seers and men of God in different parts of the world.

Man should fight man—is not what Religion teaches:
Man to be man must ever be humane;
Sense of humanity—the Brotherhood of Man.
And homage to Almighty—the Parenthood of God,
Are what any Religion worth the name aims at:
Therefore, it behoved not Man to decry Religion;
Realization by man of the True Self—the Great Truth—is its only goal.
शोध निबन्ध
हिन्दी खण्ड
विशेषावस्थक-भाष्य के पाठांतरों, उक्तीय प्राचीन अभिलेखों और इसिमासियाइं की भाषा के परिश्रेष्ठ में प्राचीन आगम-प्रणयों का सम्पादन

डॉ० के० आराव चन्द्र

जैन अर्थमागधी आगम प्रणयों में कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनकी रचना प्राचीन मानी जाती है, परन्तु उन प्रणयों की भाषा में अर्थ-विभाजन के भी दर्शन होते हैं। आगमों की अन्तिम वर्तमान पाँचवी-छठी शताब्दी में की गयी जब कि उनकी प्रथम वाचना का समय ई० पूर्व चौथी शताब्दी का माना जाता है। महावीर और बुद्ध समकालीन माने जाते हैं परन्तु उनके युग की भाषा से पाठ भाषा के प्राचीनतम अभिव्यक्तिगत-प्रणयों और अर्थमागधी के प्राचीनतम आगम प्रणयों की भाषा में बहुत अन्तर पाया जाता है, यहाँ तक कि सम्राट अशोक के शिलालेखों में, भाषा का जो स्वरूप प्राप्त होता है, उससे भी काफी विकसित रूप अर्थमागधी आगम-प्रणयों में उपलब्ध हो रहा है। हीना ऐसा चाहिए था कि कम से कम प्राचीनतम जैन आगम प्रणयों में सम्राट अशोक के पहले का तथा तत्काल जैन वाचना के काल का यानि चौथी शताब्दी ई० पूर्व का भाषा-स्वरूप मिले परन्तु ऐसा नहीं है। भाषा की ऐसी अवस्था का क्या कारण हो रहा है? आधुनिक यूरोपीय साहित्य ने कलपना की प्रस्तावना में स्पष्ट कहा है कि समय के गति के साथ-साथ चालू भाषा के प्रभाव के कारण एक अच्छे वाचनों, उपाख्यायों और विशेष अभिलेखों के अनुक्रम से एक सरल रहे होंगे। आगम-प्रणयों के शब्दों में वर्ण-विकार की जो पहले आज निर्माण प्रदेशों में देखने की संभावना है बहुत ही प्रमुख है का निर्देश है। इन अवस्थाओं के कारण आगमों के विभिन्न संस्करणों में एक ही शब्द के अनेक रूप अपनाये गये हैं। श्री शुभ्रिग महोदय ने तो इस प्रकार से उद्भव बनाते रहे हैं जिनके प्रथम भाषा की प्रवत्तियाँ उन प्रणयों में प्रथम-अन्तिम शब्दों में बदली गयी हैं। श्री शुभ्रिग महोदय के अनुसार अनेक विशेष अभिलेखों के संस्करण में भी समानता एवं एक स्वरूप है। किसी में लोक अवधारण है तो किसी में क नहीं। श्री महावीर जैन विधायक रूप से अनेक अभिलेखों के संस्करण में भी समानता एवं एक स्वरूप है। जैन अभिलेखों में लोक क भाषा में मिलता है परन्तु वहाँ के संस्करण में भी ऐसे अनेक स्वरूप हैं जहाँ पर मूल प्रत्ययों एवं चौथी शताब्दी के आधार से अर्थशास्त्री के जगह पर प्राचीन शब्द के स्वरूप स्वीकार किये जा सकते हैं। संस्करण के नीति-विवेचन नियमों में भी परिवर्तन की आवश्यकता प्राप्त होती है। यथा—अनेक प्रत्ययों में जो पाठ उपलब्ध है उसे लिया जाय या प्राचीनतम प्रति में पाठ उपलब्ध है उसे लिया जाय या चौथी का पाठ लिया जाय या टीकाकार का पाठ लिया जाय। अथवा भाषाकी संधि से जो रूप प्राचीन हो उसे अपनाया जाय?
प्रो. श्री एल० हालजप्रण महोदय यदि छन्द की वृद्धि से किसी शब्द की मात्रा को घटा या बढ़ा सकते हैं, हरस्व या दीर्घ कर सकते हैं और उसमें अब बड़ा या चटा सकते हैं तो इसी तरह से भाषा की प्राचीनता को सुरक्षित रखने के लिए क्यों न प्राचीन रूप ही स्वीकार किया जाना चाहिए। यदि किसी ग्रन्थ की प्राचीनता अयोग्य प्रमाणों से सुप्रस्तुत हो तो फिर उसकी भाषा को ब्रह्माचर्य स्वीकार किया जाना चाहिए। यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि भाषा ग्रन्थों की मात्रा में ध्वनिवास्तव दृष्टि से बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। जैन लेखिकाओं की प्रकृति ही ऐसी रही है। इसका प्रकाल सक्षण चाहिए तो हम विश्वेषाध्यक्ष-भाष्य की प्रति का अध्ययन करें। इससे इतना स्पष्ट हो जायेगा कि किसी को इस विषय में तनिक भी लाख करने का अवसर ही नहीं रहेगा।

प्रो. श्री दल्सुबमाई मालवाणिण्य द्वारा सम्पादित एवं लाख भाषा संख्या मन्दिर, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित विश्वविद्यालय भाषा सं ब्रज मन्दिर की कुछ विख्यात लेखक एवं ग्रन्थकार हैं। इसके सम्पादक में जिन ग्रन्थों का मनोरंजन किया गया है उनमें से सबसे प्राचीन जैसलमेर की ताड़पत्री प्रति है जिसका समय लगभग २वीं सदी १५५४ है। (इसके अतिरिक्त 'त' संज्ञा प्रति भी ताड़पत्री प्रति है। 'हे' और 'को' संज्ञा दो छोटे हुए संकरण हैं जो मलयारी हेमचंद्र एवं कोट्यांचार के ठीक सहित हैं।) इन सबसे भी विश्वसनीय महत्वपूर्ण जो प्रति मिली है वह है 'सं' संज्ञा जो स्वोपणवृत्ति सहित है और उसका समय १५० सन् १७२५ है। स्वोपणवृत्ति में हुएका गायथा का प्रथम शब्द मूल रूप में प्राकृत में दिया गया है, और इससे इतना लाभ तो अवश्य है कि मूल रचनाकार ने प्राकृत शब्दों को किस स्वरूप में प्रस्तुत किया है उसे हम स्पष्ट रूप से जान सकते हैं। मूल ग्रंथ के कर्त्ता आचार्य जिननाथ का समय १५० सन् २१२ सी गायथा मानता गया है (स्वर्गवास २१२ सन् २१२) और जैसलमेर की प्रति जिस आदर्श प्रति पर से लिखी गयी थी उसका समय १५० सन् १६०४ है। यह श्री दल्सुबमाई का मतत्व है। अतः विश्वविद्यालय भाषा सं की जो प्राचीनतम प्रति मिली है वह रचनाकार से लगभग ३५० वर्ष बाद की ही है। इसलिए रचनाकार की जो मूल भाषा थी उससे कोई अन्य भाषा परिवर्तित रूप में इस प्रति में मिलने की सम्भावना कम ही रहती है। स्वोपणवृत्ति में ग्राम प्राकृत शब्दों के साथ तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा। ग्रन्थ के 'हे' एवं 'को' संज्ञां प्रकाशित संकरणों के शब्दों में जो अभंगित परिवर्तन मिलता है वह प्राकृत भाषा के विभागों एवं सम्पादकों के लिए ध्यान में लेने योग्य है।

बिवेर भाषा का ध्वनिगत विवेदिगण (गायथा नं १ से १०० जिनमें सभी प्रति के पाठांतर दिये गये हैं)

(क) ग्रन्थ की स्वोपण वृत्ति में दिये गये हुएका गायथा के प्रारम्भिक शब्दों का भाषाकी (ध्वनिगत) विवेदिगण।

<table>
<thead>
<tr>
<th>शब्द</th>
<th>संयोग</th>
<th>संघोष - अघोष</th>
<th>लोप</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>म० अल्प प्राण</td>
<td>९</td>
<td>८</td>
<td>२८%</td>
</tr>
<tr>
<td>म० महा प्राण</td>
<td>०</td>
<td>६</td>
<td>३५%</td>
</tr>
<tr>
<td>संयोग</td>
<td>९</td>
<td>१०</td>
<td>१८%</td>
</tr>
<tr>
<td>संयोग</td>
<td>१५</td>
<td>११</td>
<td>६४%</td>
</tr>
</tbody>
</table>
(ख) 'जे' प्रत में प्रत्येक गाथा का वही प्रारंभिक शब्द

<table>
<thead>
<tr>
<th>लोप</th>
<th>संघीय - अंधोष</th>
<th>यथावत्</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>म० अल्प प्राण</td>
<td>7 10%</td>
<td>12 18%</td>
</tr>
<tr>
<td>म० महा प्राण</td>
<td>0 0%</td>
<td>9 13%</td>
</tr>
<tr>
<td>संयोग</td>
<td>7 83%</td>
<td>21 25%</td>
</tr>
</tbody>
</table>

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि स्वोपान्वृत्ति की तुलना में 'जे' प्रत की गाथाओं के प्रारंभिक प्रथम शब्दों में ध्वनिगत परिवर्तन बहुत ही कम मात्रा में आगे बढ़ा है और यह अन्तर लगभग 53% है। परन्तु 'जे' प्रत की 1 से 100 गाथाओं के सभी शब्दों का विश्लेषण करने पर उनमें यह लोप 112% है और यथावत स्पर्श 70% है (आगे देखिए) जो स्वोपान्वृत्ति के साथ बहुत कम अंतर रखता है।

1 से 100 गाथाओं के सभी शब्दों का विश्लेषण

<table>
<thead>
<tr>
<th>लोप</th>
<th>संघीय-अंधोष</th>
<th>यथावत्</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>(ग)</td>
<td>जे त है को</td>
<td>जे त है को</td>
</tr>
<tr>
<td>क</td>
<td>34 35 36 36</td>
<td>32 31 32 32</td>
</tr>
<tr>
<td>ग</td>
<td>0 0 0 0</td>
<td>0 0 0 0</td>
</tr>
<tr>
<td>च</td>
<td>5 5 5 5</td>
<td>0 0 0 0</td>
</tr>
<tr>
<td>ज</td>
<td>3 3 3 3</td>
<td>0 0 0 0</td>
</tr>
<tr>
<td>त</td>
<td>13 15 185 185</td>
<td>1 1 0 0</td>
</tr>
<tr>
<td>द</td>
<td>6 29 62 61</td>
<td>33 8 0 0</td>
</tr>
<tr>
<td>प</td>
<td>0 0 1 1</td>
<td>50 50 49 49</td>
</tr>
<tr>
<td>य</td>
<td>17 20 38 40</td>
<td>0 0 0 0</td>
</tr>
<tr>
<td>ब</td>
<td>6 6 6 6</td>
<td>0 0 0 0</td>
</tr>
<tr>
<td>योग</td>
<td>84 113 336 337</td>
<td>105 80 71 71</td>
</tr>
</tbody>
</table>

<table>
<thead>
<tr>
<th>स्वर्ण-लोप</th>
<th>संघीय-अंधोष</th>
<th>यथावत्</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>(घ)</td>
<td>जे त है को</td>
<td>जे त है को</td>
</tr>
<tr>
<td>ख</td>
<td>1 1 1 1</td>
<td>0 0 0 0</td>
</tr>
<tr>
<td>घ</td>
<td>0 0 0 0</td>
<td>0 0 0 0</td>
</tr>
<tr>
<td>ठ</td>
<td>2 3 30 30</td>
<td>28 27 0 0</td>
</tr>
<tr>
<td>घ</td>
<td>2 3 4 5</td>
<td>0 0 0 0</td>
</tr>
</tbody>
</table>
विशेषण और सहायक दोनों का योग
8५, १२०, ३७५, ३७७, १४४, १०७, ६१, ७१, ५५४, ५६०, ३४१, ३३९, ७८७

विशेषण:—विभिन्न प्रतों और संस्करणों के अनुसार

<table>
<thead>
<tr>
<th>लोप जे</th>
<th>त को</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>अ० प्रा० ८४, १२५%</td>
<td>११३, १५२%</td>
</tr>
<tr>
<td>म० प्रा० ५, ५%</td>
<td>६, ७%</td>
</tr>
<tr>
<td>योग ८९, १५%</td>
<td>१२०, १६%</td>
</tr>
</tbody>
</table>

<table>
<thead>
<tr>
<th>यथावतु जे</th>
<th>त को</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>अ० प्रा० ४९०, ७२%</td>
<td>४७६, ७०%</td>
</tr>
<tr>
<td>म० प्रा० ७४, ३४%</td>
<td>७३, ३०%</td>
</tr>
<tr>
<td>योग ५६४, ७०%</td>
<td>५६०, ७१%</td>
</tr>
</tbody>
</table>

<table>
<thead>
<tr>
<th>संघोष-अंशोप जे</th>
<th>त को</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>अ० प्रा० १०६, १६%</td>
<td>८०, १२%</td>
</tr>
<tr>
<td>म० प्रा० २८, २६%</td>
<td>२७, २५%</td>
</tr>
<tr>
<td>योग १३४, १९%</td>
<td>१०७, १४%</td>
</tr>
</tbody>
</table>

उपरोक्त विशेषण से स्पष्ट है कि विष ० प्रा० में लगभग १९% ही लोप प्राप्त होता है और यथावतु संख्या ७०% है। छठी शताब्दी की कृति में यह कैसे हो सकता है? इस अवस्था के लिए ऐसा माना जाता है कि उस काल में बहुत हुए संस्करण के प्रभाव के कारण अत्याधुनिक रचनाओं में तत्काल शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में होने लगा था। जो कुछ भी हो एक बात स्पष्ट है कि नामिक विकल्पों और क्रिया रूपों में 'त' के प्रयोग अधिक प्रमाण में मिलता है—सं० मू० कृ० 'त', प० ए० व० 'ती', द० का० त० प० ऐ० व०, ति,' और मध्यवर्ती 'त' के कुल १६८ प्रसंगों में से मात्र एक स्थान पर 'त' का 'द' (दीसद०५२६) और लोप मात्र १३ स्थलों पर मिलता है जबकि 'त' की यथावतु संख्या १८४ स्थलों पर उपलब्ध है। इस अवस्था के कारण यही हो सकता है कि रचनाविद को मात्रा का यही स्वरूप उस समय माना था। एक अन्य 'त' प्रति जो उपलब्ध है उसमें लोप १५% मिलता है और यथावतु संख्या ५०% ही है। इनके साथ जब 'है' एवं 'को' संस्करणों की कुल संख्या है तो उनमें लोप ४५% और यथावतु संख्या ५५% है। घोषालकरण
प्राचीन आगम-प्रवचनों का समपादन

का प्रमाण कमवः घटता जाता है :- ‘ब’ में १८५, ‘त’ में १४ तो ‘ह’ और ‘क’ में मात्र २ प्रतिशत ही रह जाता है। इससे स्पष्ट साबित होता है कि प्रथम के मूल प्राचीन शब्दों में काल की गति के साथ लेखिकों के हाथ भव्यात्मक परिवर्तन किस गति से बढ़ता गया है। इस दृष्टि से विद्याद्धर भाषा का यह विशेषण बहुत ही उपयोगी है। इसके आधार से हम विद्याश्रम के साथ कह सकते हैं कि यदि विद्याद्धर भाषा की भाषा में कुछ शताब्दियों के बाद इतना परिवर्तन आ सकता है तो फिर मूल आगम-प्रवचनों की भाषा में एक हजार और पन्थ हौ सी वर्षों के बाद कितना परिवर्तन आया होगा। इसका अन्तिम सरलता से ध्यान जा सकता है।

भाषा समझनी इस परिवर्तन के दो कारण रहे हैं—एक तो समकालीन भाषा का परिवर्तन रूप और द्वितीय व्याकरणकारों द्वारा प्रस्तुत विश्वसनीय भाषा संबंधी मानना। प्राचीन भाषा के व्याकरणों में विद्याद्धर भाषा भाषा का स्वरूप निहित रखा होता है। व्याकरणों में व्याकरण के कुछ उदाहरण तो अवशेष दिखाई देते हैं परंतु मध्यवर्ती व्यज्ञान का लोप (कुछ व्यज्ञानों के धोपिकरण के सिवाय) सर्वभाषी सभी प्राचीन भाषाओं पर लगू हो जाता है। ऐसा फलित होता है। जबकि प्राचीन प्राचीन भाषाओं—मागधी, शोभसिको अथवा महाराष्ट्री आदि में इस प्रकार का लोप होना ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। अविभाजित लेखिकों इसकी भाषा-स्वरूप पर विचार करने से तब भी यही फलित होता है। उदाहरण के तीर पर महावीर के ४४ वर्ष बाद में बल्लार राजा में उपलब्ध शिलालेख में मध्यवर्ती व्यज्ञान का लोप नहीं लिया था। नामिक विविध—‘त‘ और ‘ष‘ है, उसके स्थान पर ‘ए‘ नहीं है। अवशेष के शिलालेखों में व्यवहार बिना प्रारम्भ हो गया है। धोपिकरण, अधोपिकरण एवं लोप का प्रमाण ५ से ६ प्रतिशत ही है। मौर्यकालीन अन्य शिलालेखों में भी यही प्रमाण है। शारवेल के शिलालेख में धोपिकरण बढ़ गया है। आठ में से ४ बार ‘ट‘ का ‘ठ‘ मिलता है हालाँकि वर्ण-विचार तो ५-६ प्रतिशत ही मिलता है। विभिन्न प्रकार के प्राचीन उल्लेख लेखिकों द्वारा चलता है कि मध्यवर्ती व्यज्ञानों के लोप की प्रवृत्ति का प्रवर्तन उत्तर प्रदेश और पश्चिम भारत में सबसे अधिक हुआ था। इतना ही नहीं परंतु मध्यवर्ती ‘न‘ के ‘ण‘ में परिवर्तन भी इसी क्षेत्र के देव है। उत्तर-पश्चिम भारत में प्रायः ८५ सनों प्रमाण शताब्दी के तीन लेखिकों में (पंजाब, कलकिता और तख्तापल्ली; सरकार संस्करण, सनों १२३, १२४, १२५) के विवेचन से यह सशक्त होता है कि उनकी भाषा में लोप ३०% यथावत स्थिति ७५% और सर्पोष-अयोग १३% मिलता है। कुल लोप २७, यथावत ४५, सर्पोष १२ और आपोष २ (८५ प्रतिशत)। इनमें प्रामाणिक 'न' का ‘ण‘ में परिवर्तन १००% है और मध्यवर्ती ‘न‘ का ५५% मिलता है। पश्चिम भारत में नामिक, काश्तोरी और जूनर के लेखिकों में भी लोप एवं सर्पोष की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। ‘ण‘ का ‘न‘ में परिवर्तन भी अधिक मात्रा में उपलब्ध हो रहा है।

इस भव्यात्मक परिवर्तन की दृष्टि से इसिस्मासियाइड्र का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है। यह भी एक प्राचीन कृति मानी जाती है। शुद्धभाषाओं द्वारा संपादित संस्करण में अध्ययन नं. १, २, ३, ५, १२, २९ और १२ में मध्यवर्ती लोप ४१ से ३१% के बीच है, यथावत स्थिति ०५% से ८१% है। इन सातों अध्ययनों का औसत है—लोप २३%, यथावत ६०% तथा सर्पोष अयोग २२%।

इसका संपादन मात्र दो प्रतियों के आधार से किया गया है। पाठनतिरी की बहुत नहीं है जो हमें
इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन ग्रन्थों को भाषा भो प्राचीन होनी चाहिए। कालांतर में इस्तेमाल किया जाने वाला बनावट बनावट माने जाने चाहिए। मूल ग्रन्थ के हस्ताक्षरों में, चूर्णि ग्रन्थ या ठीक का भी हो जिस किसी में भी यदि भाषाकीय दृष्टि से प्राचीन रूप मिलता हो तो भर्षक की संवादित मुद्रणित रहती हो तो उसी पाठ को स्वीकार किया जाना चाहिए। आगम-ग्रन्थों के संपादकों के सामने यही मुद्दा है जो इस विवेचना से स्पष्ट हो रहा है कि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ की विभिन्न कालों में विभिन्न अधिक प्रतिलिपियाँ उत्कृष्ट गयी उत्तरे ही प्रमाण में उस ग्रन्थ के मूल भाषा में परिवर्तन भी बढ़ता ही गया।
विशेषवशक भाष्य की गाथा नं १ से १०० के कार्यक्षय प्रारंभिक शब्द

अब वि. आ. भ. के विभिन्न संस्करणों में प्रचुर कार्यक्षय उन शब्दों की तुलनात्मक तालिका दी जा रही है जो एक से सौ गाथाओं के प्रारंभिक शब्द हैं। इस तालिका से जो स्थिति सामने आती है वह इस प्रकार हैः

<table>
<thead>
<tr>
<th>गाथा नं</th>
<th>संस्करण</th>
<th>पूर्वाय</th>
<th>स्व० दो</th>
<th>को</th>
<th>हे</th>
<th>जे</th>
<th>तो</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>४१.</td>
<td>अलोकसु</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>को</td>
<td>हे</td>
<td>जे</td>
<td>तो</td>
</tr>
<tr>
<td>२२.</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>को</td>
<td>हे</td>
<td>जे</td>
<td>तो</td>
</tr>
<tr>
<td>५०.</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>को</td>
<td>हे</td>
<td>जे</td>
<td>तो</td>
</tr>
<tr>
<td>५१.</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>को</td>
<td>हे</td>
<td>जे</td>
<td>तो</td>
</tr>
<tr>
<td>५१.</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>को</td>
<td>हे</td>
<td>जे</td>
<td>तो</td>
</tr>
<tr>
<td>७८.</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>को</td>
<td>हे</td>
<td>जे</td>
<td>तो</td>
</tr>
<tr>
<td>६१.</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>को</td>
<td>हे</td>
<td>जे</td>
<td>तो</td>
</tr>
<tr>
<td>५१.</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>को</td>
<td>हे</td>
<td>जे</td>
<td>तो</td>
</tr>
<tr>
<td>६६.</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>को</td>
<td>हे</td>
<td>जे</td>
<td>तो</td>
</tr>
<tr>
<td>६६.</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>को</td>
<td>हे</td>
<td>जे</td>
<td>तो</td>
</tr>
<tr>
<td>४२.</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>को</td>
<td>हे</td>
<td>जे</td>
<td>तो</td>
</tr>
<tr>
<td>२९.</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>अलोक</td>
<td>को</td>
<td>हे</td>
<td>जे</td>
<td>तो</td>
</tr>
</tbody>
</table>
डाँठे के आराम बना

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ

अर्घ अर्घ
प्राचीन आगम-प्रवचन का सम्पादन

दो-दोणी निकाल रही थी। दो-दोणी निकाल रही थी।

दो-दोणी निकाल रही थी। दो-दोणी निकाल रही थी।

दो-दोणी निकाल रही थी। दो-दोणी निकाल रही थी।

दो-दोणी निकाल रही थी। दो-दोणी निकाल रही थी।

दो-दोणी निकाल रही थी। दो-दोणी निकाल रही थी।

दो-दोणी निकाल रही थी। दो-दोणी निकाल रही थी।

दो-दोणी निकाल रही थी। दो-दोणी निकाल रही थी।

दो-दोणी निकाल रही थी। दो-दोणी निकाल रही थी।

दो-दोणी निकाल रही थी। दो-दोणी निकाल रही थी।
ग्रन्थ के ‘को’ एवं ‘हें’ संस्करणों में मध्यवर्ती, ध, ध, ध, एवं के के बदले में य, ह, य, ह एवं य वर्ण कमाल: मिलते हैं। स्पष्ट है कि मध्यवर्ती व्यज्ञनों का लोप अधिक मात्रा में पाया जाता है जैसा कि ऊपर पहले ही बतला दिया गया है। जब तक अन्य प्राचीन तात्पर्य निर्देश नहीं मिली थी तब तक इन संस्करणों के ही प्रमाणित माना जाता था और मध्यवर्ती व्यज्ञन-लोप-युक शब्द ही लेखक की भाषा हो ऐसा समझा जाता रहा परन्तु ‘जे’ प्रति मिलने से सारा तथ्य ही बदल गया। यह प्रति सबसे प्राचीन है और उसे अधिक प्रमाणित माना जाता है जिसमें लेखक के ही शब्दों की वर्ण-व्यवस्था सुरक्षित है। इसमें मध्यवर्ती ‘त’ की यथावत स्थिति होने के कारण किसी विद्वान् को यह शंका हो कि इसमें भी ‘त’ श्रुति आ गयी है तो उसका निराकरण इस बात से होता है कि ग्रन्थकार ने जो स्वीकृत वृत्ति लिखी है उसमें भी मध्यवर्ती ‘त’ की वही स्थिति है। अतः बाद में ‘त’ आ गया हो ऐसा कहना उचित नहीं होगा। ‘जे’ प्रति के शब्दों और स्वीकृत वृत्ति के शब्दों की वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन समाप्त है यह ऊपर बतलाया जा चुका है। कोई यदि ऐसा कहे कि स्वीकृत-वृत्ति की प्रति है १०४२४ की है अतः उसमें भी ‘त’ श्रुति आ गयी होगी। इसके उद्देश्य में यह भी तो प्रश्न होता है कि तब फिर ‘क’ के लिए ‘ग’, ‘च’ के लिए ‘ध’ और ‘द’ के लिए ‘द’ का प्रयोग दोनों प्रयोगों में मिलता है उसका व्याख्या उल्लेख होगा। अतः ‘त’ श्रुति की शंका करना निराशार बना जाता है। लेखक को जो मान्य थी वैसी ही वर्ण-व्यवस्था उन्होंने अपनायी है। ‘को’ एवं ‘हें’ संस्करणों में वर्ण-संवेदना जो परिवर्तन पाया जाता है वह लेखकों द्वारा बाद में किया गया परिवर्तन है—लोप है—पनन्त और काँठीन व्याकरणधारकों का प्रभाव है—चालु भाषा का प्रभाव है ऐसा अवकेश रूप से प्रमाणित हो रहा है। उन्होंने ही भाषा की प्राचीनता को बदला है जो वर्ण की तरह स्पष्ट हो रहा है। यह तो पारंचीक शास्त्राध्यायों में रचे गये एक ग्रन्थ की कहानी है तब फिर प्राचीन आगम ग्रंथों की भाषा के साथ १३३० वर्षों में बिना बिजली हुआ होगा यह कैसे कहा जा सकता है। उनके साथ भी यदि ऐसा ही हुआ तो अन्य तक के संस्करणों में मध्यवर्ती व्यज्ञनों के लोप को जो महत्व दिया है वह बिलकुल गलत है और भाषा की एकप्रकार के नाम से (अवकेश व्याकरण की दृष्टि से) क्रमिक विद्वान कर्म किया गया है वह अवकेश कर बन जाता है। विद्वानों की भाषा और उपदेशक-संतों की भाषा में हमेशा अंतर रहा है। उपदेशकों की भाषा में बहुत रहस्यमय है जो लोकभाषा का सहारा लिये हुए होती है। क्या प्राचीन हिन्दी, प्राचीन गुजराती एवं प्राचीन राजस्थानी के साहित्य में वे सब तथ्य हमारे सामने नहीं आते हैं? अतः अभी तक प्राचीन ग्रंथों के समाप्त में जो नीति अपनायी गयी है वह उचित है या उसे बदलने-मुड़ने की आवश्यकता है इस विषय पर प्राकृत के अनुसार विद्वान अपने-अपने विचार प्रकट करें।

—प्राकृत विभाषा
गुजरात विश्वविद्यालय अहमदाबाद.
जैन आगमों में निहित गणितीय अध्ययन के विषय

अनुपम जैन* एवं सुरेशचन्द्र अपराजाल**

जैन परंपरा में तीर्थकरों के उपदेशों एवं उन उपदेशों की उनके प्रथाम विषयों (गणितों)
प्रचार करने वाले समस्त शास्त्र आगम की संख्या से अभिव्यक्त किये जाते हैं। तत्त्वज्ञानी में उपलब्ध
समस्त आगमों की रचना 5वीं शती 800 से 5 वीं शती 800 के मध्य जैन
परंपरा के वरिष्ठ आचार्यों द्वारा सम्बन्धित महावीर के उपदेशों के आधार पर की गयी है। जैनधर्म
की दोनों धाराएं (दिगम्बर एवं श्रेष्ठचन्द्र) आगमों की नामांकन के सन्दर्भ में एकमत नहीं है।
जैन दिगम्बर परंपरा बड़हंडागम, कवियां, ज्योतिषीय एवं आचार्य एवं कुलकुल के साहित्य को आगम के
रूप में मानता देती है, जबकि श्रेष्ठचन्द्र परंपरा बदेशधागम, कश्मीरी, कुडुल के साहित्य को आगम के
रूप में मानता देती है। जैन दिगम्बर रूप में सम्पूर्ण वाचन के स्वतंत्र एवं विश्लेषण होते हुए परंपरागत ज्ञान को
आधार बनाकर लिखे गये अंग, उपांग साहित्य की आगम की मान्यता देता है। ये अंग, उपांग
अंद्रभागी प्राकृत भाषा में निबंध हैं। इस्तेमाल जैन आगम के रूप में चर्चा करने की।

जैन आगम ग्रंथों में स्थानांतर (ढांचा) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अंग साहित्य में यह तृतीय
स्थान पर आता है। मूल रूप से लगभग 300 ई.पू. में सुजित एवं 5 वीं शती 800 में अन्य तत्त्वज्ञानी
रूप में संकलित इस अंग के दृष्टि में अध्ययन में निहित 1000 वीं गाथा गणितों
की जानकारी मिलती है। इन गाथाओं से हमें गणित के अनंतरंग अध्ययन के विषयों की
जानकारी मिलती है। परंपरा रूप से यह माना जा सकता है कि ये विषय आगमें भी उपलब्ध होगे,
क्योंकि तीर्थकर महावीर को संस्कृतांतर का विशेष ध्यान दाया गया है। अंग आगम प्रथा
उनके परंपरागत ज्ञान के संबंध में मान्य रूप में तब तक नहीं मुद्रित संस्करण में निम्न प्रकार पाई
जाती है।

दस विश्वसंख्या प्रणति के तनते—

परिक्रमा बवहरो रजजु रासी कलासवणौ य जावतसारस बगो घणो य (त) तत्तव वर्गवलो वि (कप्पो पौ त-१)।
उपयुक्त रूप के अतिरिक्त कई गणित इतिहासज्ञों ने इसे निम्न रूप में हस्तित किया है।

परिक्रमा बवहरो रजजु रासी कलासवणने (कलासवणौ) या
जावतसारस बगो घणो तत्तव वर्ग बगो विकपो त।—(२)

* व्या्यायाता (गणित) शास्त्रीय महाविद्यालय, व्या्याया (राजस्थान) म० पृ० ४६५-६६५।
** रीडर, गणित विभाग, उच्चायाग संस्थान, मेरठ, वि० मेरठ (उ० पृ०)
१. गणितसारसंहस्त्र-भंगसारचणौ १/२, पृ० १।
२. क्रांस ९२६ १०१००।
अनुपम जैन एवं सुरेशचन्द्र अग्रवाल

(२) इस रूप में गाथा को दत्त ६, जैन ७ एवं उपाध्याय ८ ने उद्धृत किया है जबकि कापड़ा गियां ९ ने इसे निम्न रूप में उद्धृत किया है।

परिक्रम (१) बवहारोी, (२) रजजू, (३) रासी, (४) कलासवनने, (५) य।

जावंतकति, (६) वगो, (७) घणो (८) तथा वगवगो (९) वि कप्यो। || ३ ||

ढाणः में (१) की संस्कृत छाया निम्न प्रकार दी गई है।

परिक्रम व्यवहार: रजजू रासी। कलासवनने।

यावत्तू तावतू हि वर्ग: वननाच तथा वर्गवापि। || कलप्या दृ। ||

स्थानांग की इस गाथा की वर्तमान में उपलब्ध सर्वप्रथम व्याख्या अभयदेव सूरि (१०४वीं शती ई०) द्वारा की गई। स्थानांग की टीका में उपर्युक्त गाथा में आये विषयों का वर्त्त स्पष्ट करते हुये उन्होंने निर्धारित किया कि:—

१. परिक्रम = संकलन आदि।
२. बवहार = प्रेणो व्यवहार या पाठी गणित।
३. रजजू = समतल व्यामित।
४. रासी = अन्नों की देरी।
५. कलासवनने = प्राङूक्त संख्याओं का गुणन या संकलन।
६. वगो = वग।
७. घणो = घन।
८. वगवगो = छुटुर्थवात।
९. कप्यो = क्रमचिका व्यवहार।

दत्त ६ (१०३०) ने लाभन ६०० वर्गों के उपरांत उपर्युक्त व्याख्या को अप्रूण एवं एकाग्री ग्रोपित करते हुए अपनी व्याख्या प्रस्तुत की। दत्त के समय में भी जैन गणित का ज्ञान अप्रचलित प्रारंभिक था एवं गणितीय वृद्धि से महत्त्वपूर्ण, वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ उस समय तक अप्रकाशित एवं अज्ञात थे तथापि उनकी व्याख्या अभयदेवसूरि की व्याख्या की अपेक्षा तर्कसंगत और गौरवमय है। उन्होंने उपर्युक्त दस शब्दों की व्याख्या निम्न प्रकार दी।

१. देखें सं°३, पृ° १२९।
२. देखें सं°६, पृ° ३७।

इस्तेमाल तथा कलासवनने के स्थान पर “कलासवनने” पाठ लिया है।
३. देखें सं°१, पृ° २६।

(अपने विकप्यो त को विकप्यो रूप में लिखा है। इन दोनों पाठान्तरों से कोई अंतर नहीं पड़ता। जबकि (१) एवं (२) के पाठों में "पि ‘कप्यो य’ तथा ‘विकप्यो त’ का अंतर

प्रत्यय है।
४. देखें सं°३०, पृ° १२।
५. ठाणा, पृ° १२६।
६. देखें सं°३, पृ° १२६-१२२।
1. अंक गणित के परिक्रम (Fundamental Operation)
2. अंक गणित के व्यवहार (Subject of Treatment)
3. रेखागणित (Geometry)
4. राशियों का आयतन आदि निकालना (Mensuration of Solid bodies)
5. भिन्न (Fraction)
6. सरल समीकरण (Simple Equation)
7. वर्ग समीकरण (Quadratic Equation)
8. घन समीकरण (Cubic Equation)
9. चतुर्थ घात समीकरण (Biquadratic Equation)
10. विक्रम  गणित या कंपलेक्स संख्याएं (Combination & Permutation)

द्वारा विषय की व्याख्या रूप से समीक्षा किये जाने के उपरांत सर्वपूर्ण कार्यावर्त (१९३७) ने इस विषय का स्पर्श किया किन्तु निर्णय हेतु अति संबंधित सामग्री प्राप्त करने के अभाव में आपने अपना निर्णय सुरक्षित रखा। आपने लिखा कि :—

It is extremely difficult to reconcile these two views especially when we have at present neither any access to a commentary prior to the one mentioned above nor to any mathematical works of Jaina authorship which is earlier to Gaṇita Sāra Saṃgraha. So under these circumstances I shall be excused if I reserve this matter for further research."


avyam (१९६५) उपवास (१९६५) अय्यर (१९७२) जीन (३क्षेरों) (१९८०) ने अपनी कृतियों/लेखों में इस विषय का उल्लेख किया है। स्वामीनाथ सूत्र के बिंदु 2-3 दर्शनों में प्रकाशित अनेक सामग्री में अवयवसूत्र की ही मात्र का पूर्ण किया गया है। जीन विश्व भारती, लाहौर में प्रकाशित संस्करण में 3 पृष्ठीय विश्लेषण परिचय में इस विषय को विवेचना की गई है किन्तु वह भी पर्याप्त रूप से ही है। हम यहाँ क्रम के परिक्रम, व्यवहार आदि संदर्भों को अधारणा प्रकाशित व्याख्याओं की समीक्षा कर निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेंगे।

परिक्रम (संत परिक्रम)

परिक्रम के अन्तिम इतिहास परिक्रम। अथवा जिसमें गणित की मूल किया सम्प्रभु की जाये उसे परिक्रम कहते हैं। परिक्रम शब्द जीन वादमय के लिए नया नहीं है। अंग साहित्य के अन्तर्गत दृष्टिकोण अंग (१२वां अंग) का एक भेद परिक्रम है। आ० केन्द्रक (द्वितीय-चौथी शती ई०)

1. देखें सं० १०, पृ० १२।
2. देखें सं०–१३, पृ० २५–२७।
3. देखें सं०–११, पृ० २६।
4. देखें सं०–१, पृ० ३०–३६।
5. देखें सं०–८, पृ० ३३–३४, ४२।
6. देखें सं०–६, पृ० २२।
ने पर्शुप्राणम के प्रथम तीन अध्यायों पर १२००० हिस्टोक प्रमाण परिक्रमक नामक टोका लिखी थी। वीरासन (८२६ ई. ) कुत धारण में 'परियम्स मुख्त' नामक प्रत्यक्ष का गणित प्रत्यक्ष के रूप में अनेकार्य उल्लेख हुआ है। महाबोधिराजन (८५० ई.) कुत गणितसारसंप्रभु का एक अध्याय भी परिक्रम व्यक्त है जिसमें अष्ट परिक्रमों की चर्चा है। १२ प्रथम प्रभुगुप्त (६२८ ई.) ने २० परिक्रमों का उल्लेख किया है। तथापि भारतीय गणितज्ञों ने मौलिक परिक्रम ८ ही माना है जो कि ग्रंथगुप्त के निम्नांकित २० परिक्रमों में से प्रथम ८ है।

१. संकलन (जोड़ )
२. व्यकलन (घटाना)
३. गुणन
४. भाग
५. वर्ग
६. वर्गमूल
७. घन
८. घनमूल

वस्तुतः मूलपरिक्रम तो संकलन एवं व्यकलन ही है। अतः तो उनसे विकसित किये जा सकते हैं। मिल, गुणन एवं वर्गमूलों ने विशुद्धकरण एवं वर्गीकरण को भी मौलिक परिक्रम माना है। किन्तु भारतवासियों ने नहीं माना है। वर्षों दशामिन्द्र स्थान मान उद्धरण से मिल लोगों के लिए इन परिक्रमों का कोई महत्व नहीं है। अभिधान विज्ञान को में चुनाव को उद्देश्य करते हुए लिखा गया है कि परिक्रम गणित की वह मूलभूत किया है; जो कि विचारों की विज्ञान के दोष एवं वास्तिक भाग में प्रवेश का योग्य बनाती है। इसकी संख्या १६ है। भारतीय गणितज्ञों के लिये ये परिक्रम इतने सत्तू एवं सहज ये उच्चतरूर्ध्व प्रस्तुतों में इसका कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। इसी तथ्य के आधार पर दत्त महोदय ने लिखा है कि इन साधारण परिक्रमों में से अधिकांश का उल्लेख सिद्धांत प्रविधों में नहीं मिलता।

अग्रवाल ने लिखा है कि—

"इससे यह प्रतीत होता है कि गणित की मूल प्रक्रियाओं चार ही मानी गई है—संकलन, व्यकलन, गुणन एवं भाग। इन चारों क्रियाओं के आधार पर ही परिक्रमणिक का गणित विकसित हुआ है।"

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है परिक्रम का अर्थ गणित की मूलभूत प्रक्रियाओं ही हैं एवं परिक्रमण शाब्दिक आधार परिक्रमण के परिक्रम से ही है।

१. आपसे अर्पित सरल होने के कारण संकलन एवं व्यकलन की विचारों की चर्चा नहीं की है।
२. देखें सं० ५, पृ० १५८।
३. देखें सं० ३, पृ० २४।
४. देखें सं० १, पृ० ३३।
२. व्यवहार ( सं० व्यवहार ) :—

इस शब्द की यास्या अभयदेवसूरिने श्रेणी व्यवहार आदि पाठीगणित के रूप में तथा
दत शहीदय ने अंकगणित के व्यवहार रूप में की है। ब्रह्मगुप्त ने व्यवहार के ८ प्रकार बताये हैं।

१. मित्रक व्यवहार,
२. श्रेणी व्यवहार,
३. लात व्यवहार,
४. झाण व्यवहार,
५. विष्णु व्यवहार,
६. कक्षिका व्यवहार,
७. राजी व्यवहार,
८. झाणा व्यवहार

महाबोधिरामचर्य के गणितसारसंग्रह में भी सभी प्रक्रिया उपलब्ध हैं। उससे इनकी विषयवस्तु
का समाहित नहीं निष्कर्षित किया जा सकता है। श्रेणी व्यवहार गणितके क्षेत्र में जैन-मतावलीक्षणों का
लाभ होता है। लेखक वंशानीय है लिखितप्रणाली एवं ध्वनि के साथ ही विलोकनसार के अनुपात
प्रवेश करते हुए बाहर धाराओं पर ही एक विस्तृत संस्करण उपलब्ध था। फलतः विभिन्न व्यवहारों
में श्रेणी व्यवहार के प्रमुख होते के कारण शहीदय के व्यवस्थापक में उसकी प्रमुखता देते हुए लिखना
स्वाभाविक प्रतीत होता है। व्यवस्थापित शहीदय तो जैन गणित समूह भारतीय गणित में
प्रचलित है। ध्रुपद ( ७५० ई० ) क्रृत पाठीगणित, गणितसार, गणितमिति; मार्गक (११५० ई०)
क्रृत कुंभकोंत रामायण (१३५६ ई०) क्रृत गणितकोंस्री; मुनि (१६५८ ई०) क्रृत पाठीसार इस
विषय के संस्कार प्राण हैं। इस प्रक्रिया में भी विस्तृत प्रक्रिया एवं व्यवहारों का वर्ण है। अतः कहा
जा सकता है कि गणितसारसंग्रह की सम्पूर्ण सामग्री परिक्रमा एवं व्यवहार इन दोनों में ही
समाहित है।

वर्तमान में व्यवहारगणित शहीदय का प्रयोग पाठीगणित की उस प्रक्रिया के लिए होता है।
जिसमें गुणक संख्या के योगात्मक चार्ट करके गुणक से गुणा किया जाये। जिस समय बड़ी संख्याओं
की गणनाविधि का प्रचलन नहीं हुआ था उस समय गुणक संख्या की कई समानांतर चार्टों में विभाजित कर
पूरक-रूपक गुणन करके उस गुणककल्प को जोड़ दिया जाता था, किन्तु जैन की
गुणन चार्ट में दक्षता एवं गणितीय तात्त्विक परिप्रेक्ष्य का दृष्टिकोण करते यह अनुमान
करना निरर्थक ही है कि व्यवहार गणति गुणक के इस सन्दर्भ में आया ही सकता है। उपाध्याय,
व्यवहार गणित का अर्थ Practical Arithmetics करते हैं। जब कि Srinivas Iengar ने
लिखा है कि 'Vyavahar means application of arithmetics to concrete problems
(Applied Mathematics)' संस्करण में व्यवहार का अर्थ पाठीगणित के व्यवहार करना उपयुक्त है।

३. रज़ूः :—इस पारिशिक शहीदय का विषय-सूची में उपयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है।
अभयदेवसूरिने इसका अर्थ रस्ती द्वारा की जाते हुए साधनों के सम्बन्ध में अर्थात् समतल
ध्रुपद में सिखे हुए। इसकी परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण

१. श्रेणी व्यवहार विभेद पाठीगणित प्रशिक्षण व्यवहार गणित है।
२. विलोकनसार, गाथा १०७
३. धर्म का अर्थ Sequence है।
४. देखें सं० १३, पृ० ३२
५. राजबंधु जे संक्षेप ते रज़ूः कहताय हेते क्षेत्र गणित है।
अनुपम जैन एवं सुरेशचन्द्र अय्यार

ज्यामिति को समाहित कर लिया। अय्यार ने लिखा है कि—

“रज्जुगणित का अभिप्राय ज्यामिति से है। ज्यामिति में पल्ले सागर आदि का ज्ञान अपेक्षित है। आरम्भ में इस गणित को सीमा केवल क्षेत्र परिभाषाओं तक ही सीमित थी पर विकसित होते-होते यह समस्त ज्यामिति के रूप में वृद्धि गया हो गया है।”

आयगृह के अनुसार :—

Rajju is the ancient Hindu name for geometry which was called Sulva in the Vedic literature.

अथवा रज्जु रेखागणित की प्राचीन हिंदू मंज़ा है जो कि वैदिक काल में हुल्ल नाम से जानी जाती थी।

काब्यायन शूलसूत्र में ज्यामिति को रज्जु समास बहा गया है।

प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन ने रज्जु के संदर्भ में लिखा है :—“इस प्रकार रज्जु के उपयोग का अभिप्राय जैन साहित्य में शूल क्रमों से बिलकुल मिला है। रज्जु का जैन साहित्य में मान राशिपर व्यवस्था ने निकाला गया है और उससे न केवल लोक के आयाम निरूपित किये गये है किन्तु यह माप भी दिया गया है कि उक रेखाक माप में कितने प्रदेशों की राशि समान हुई है। उसका अन्य पत्र जगद्यायों से जगद्यात्मक एवं धातुचिक से भी है।”

अपने संदर्भित गाथा के विषयों की व्याख्या करते हुए रज्जु का अर्थ विभाग माप की इकाई लिखा है।

वस्तुतः उस स्थिति में जबकि व्यवहार के 8 मेजतों में से एक मेज केन-व्यवहार भी है और उसमें ज्यामिति का विषय समाहित हो जाता है एवं खात, विषय, राशि एवं कारक, व्यवहार के अन्तर्गत मेन्स्युरेशन (Mensuration.) का विषय भी आ जाता है। तबके ज्यामिति के लिये म्यान अध्याय का इतनी अवश्यकता नहीं रह गई जितनी लोक के प्रमाण विस्तार आदि के प्रमाणान्त ज्ञात नहीं। इन विषयों का व्यापक एवं व्यवस्थित विवेचन जैन ग्रन्थों में लिखा है। जबकि यह अन्य किसी समकालीन ग्रन्थ में नहीं मिलता। विविध धार्मिक-अध्यात्मिक जैन विषयों के भौगोलिक कारण में इनकी अवरुद्ध अवश्यकता व रणनीतियों अथवा अवधारणाओं के किसी भी ग्रन्थ में देखी जा सकती है। एवं विषय गणित की जैन जगद्यात्मक आकर्षण इस सौतले से भी किया जा सकता है कि हेमराज ने संस्कृत, अंजीय एवं अन्य विषय गणित पर १७वीं शताब्दी में गणितसार नामक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की। अंजीय एवं अन्य के जड़ुल विषयों को परिक्रमा के अन्तर्गत मानना किचित्तू भी उचित नहीं, क्योंकि परिक्रमा में तो गणित (लौकिक गणित) की मूलभूत क्रियाओं आती है।

१. देखें सं ०-१, पृ ० १६।
२. देखें सं ०-१३ पृ ० २६।
३. रज्जु समास व्यास, काश्यप शूलसूत्र १.१।
४. देखें सं ०-८, पृ ० ५५।
जन आचार्यों में निहित गणितीय अभ्यास के विषय

रज्जु, पत्ता आदि की मणना सामान्य परिक्षण से असम्भव है।

धनांगुल जगवेणि एवं पत्ता को अपने सामान्य अर्थ में प्रयुक्त करने पर—

पत्ता प्रमाण के अर्धचक्षु

असंस्कृत

जगवेणि = ७ रज्जु = धनांगुल

यदि पत्ता प्रमाण P होता log2P/असंस्कृत

रज्जु = ३ धनांगुल

स्पष्टतः रज्जु (रज्जु) एक असंस्कृत राशि हुई। असंस्कृत संकेत करने वाले वृतों की

श्लेषण में अन्तम स्वयम्भूर्त की व्यास रज्जु बनाया गया है। फलतः इस विधि से भी

इसका मान असंस्कृत है समझा है।

प्रो. बासीराम जैन ने आइस्टेन के बिहारास्त्र परिपथ संस्कृत सूचना देने वाले लोक की निघण्ड के

आधार से प्राणम धनपत्र की लोक के आयतन से तुलना करने रज्जु (रज्जु) का मान प्राप्त किया।

यह मान—

1.४५ हेक्टेयर

1.६३ हेक्टेयर है। एक अन्य रोटी से यह मान

1.२५ हेक्टेयर होता है।

फिर से वासीराम जैन द्वारा उद्देश्य मान अनुपात है, व्यक्ति के सभी कल्पनाओं एवं अभिभावकों पर आधित है। रज्जु की तो असंस्कृत रूप में हो सकेगा करना उपयुक्त है। यह

स्वीकार करने में निकाल भी संकेत नहीं होना चाहिए के रज्जु शब्द शून्य का उपर में भारतीय गणित में क्षेत्रगणित के सन्दर्भ में आया है। भले ही वह मापन वाली रस्ती रही हो या

मापन किया। यह शब्द रेखागणित तथा विद्युंज, चतुर्भुज की चारों सुभाषों के योग के रूप में भी

शब्द हुआ है। तबापि यह आवश्यक नहीं है कि यह इस गाथा या ग्रंथस्रोतों में भी इसी अर्थ

में आया आया हो। इस विषय के विस्तार में न जाकर हम यहाँ इतना कहना, उचित समझते हैं कि

प्रस्तुत गाथा में रज्जु शीर्षक हमें उस विषय की ओर इंगित करता है जिसमें लोक के विस्तार,

लोक संरचना, जमानत परिवर्तन, विषय परिवर्तन, संदर्भ परिवर्तन से शिष्यने बदल जाते हैं। यह विषय

भाषा संदर्भ के वेताओं हेतु नया नहीं है। हमारे विचार से रज्जु की व्याख्या में अभयदेव एवं दत्त

दोनों ही असफल रहे हैं एवं लक्ष्मीचन्द्र जैन ने वही दिशा की ओर संकेत किया है।

1. देखें सं १०-६, पृ २२-२३।
2. देखें सं १०-५, पृ ९३।
3. देखें सं १०-११ पृ २१५, २१६।

१२
राशि (सं. राशि) :—

इस शब्द की व्याख्या में अभयदेव एवं दत्त में गम्भीर मन्दिर है। अभयदेव ने राशि का अर्थ अन्यों की है जबकि दत्त ने उनकी व्याख्या को पूर्णतः निरस्त करते हुए लिखा—

‘The term rasi appears in later Hindu works, except this last mentioned one (G. S. S.) and means measurement of mounds of grains. But I do not think that it has been used in the same sense in the cononical works for measurement of heaps of grain has never been given any prominence in later mathematical works and indeed it does not deserves any prominence.’

स्वयंत्र राशि शब्द गणितसार संग्रह के बाद के सभी ग्रन्थों में अन्यों की देखरेख के मापन के संदर्भ में आया है किंतु मैं नहीं समझता कि यह प्राचीन गणितसार-ग्रन्थों में भी इसी संदर्भ में प्रयुक्त हुआ होगा। अन्यों की देखरेख के मापन को बाद के ग्रन्थों में भी कोई महत्त्व नहीं दिया गया और न यह दिया जाने योग्य है।

उन्होंने आगे लिखा है कि राशि का अर्थ अन्यों की देखरेख संकुचित है एवं यह शब्द व्यापक रूप से ज्यामिति की हृदय संगीत करता है। परवर्तीहिंदी गणित ग्रन्थों में यह प्रकरण लघुत्व व्याख्यात के अन्तर्गत आया है एवं राशि इसका एक छोटा भाग है।

पृथ्वीराज जैन ने एक स्थान पर राशि का अर्थ समुच्चय/अन्यों की देखरेख है। हमारे विचार में सूर्य एवं दत्त दोनों के अर्थ समीक्षण नहीं हैं। समुच्चय अर्थ अनेक कारणों से ज्यामिति उपयुक्त हृदय है।

राशि शब्द की व्याख्या करते हुए जैन ने लिखा है कि इस पारिभाषिक शब्द पर गणित इतिहासों ने ध्यान नहीं दिया। राशि के अभिव्यक्त—सेट (Set) जैसे ही है। राशि के पदशीलता शब्द समूह, औप, पूजा, बुद्ध, सम्प्राय, समुदाय, पिण्ड, अधोश्रृङ्ख तथा सामान्य हैं। जैन क्रम एवं दर्शन समय-साहित्य में वैदिक (२२६ ई० लगभग) तक इसका उपयोग अधिक तो होने लगा था। इसका उपयोग परवर्ती हिंदू गणित ग्रन्थों में त्रिभुजिक पंचकारण के रूप में भी हुआ है। अभिव्यक्त राजा-कोष में राशि का प्रयोग समूह, औप, पूजा, सामान्य वस्तुओं का संयोजन, लिंग, धार्मिक, नृत्य, व्यवसाय राशि, संख्यात्मक राशि के रूप में बताया गया है। तिलोकपरापण्णि (४७३-६०९) ई० में सूष्त्रि विज्ञान के संदर्भ में प्रयुक्त समुच्चयों हेतु राशि का अनेकांक उपयोग हुआ है।

किसी भी राशि के अवयव का उसी राशि से सदस्यता विश्वास संबन्ध होता है। राशि की संरचना करने वाले ६ द्रव्य निम्न हैं:

1. जीव,
2. पुरुष परमाणु,
3. धर्म
4. अधर्म
5. आकाश
6. कालाणु

1. धार्मिक भिन्नता दर्शाते सैनिक विश्वास वालुदं संबंध ते राशि परमाणु राशिविभाग नाम ती प्राप्त है।
2. देखिं सं०-२, पृ० १२०।
3. देखिं सं०-१, पृ० ३६।
4. देखिं सं०-८, पृ० ४५।
राशि रचने वाली इकायों समय, प्रेय, अविभाजी, प्रतिष्ठित, वर्ग एवं सम्प्रदायवाद हैं।

अपने लेख में जैन ने जैनामों एवं उसकी टीकाओं में पाये जाने वाले समुच्चयों के
प्रकार, उदाहरण लिखने की विधि संकेततात्मक विधि, पद्धति, उन पर सम्पादित को जाने वाले विविध संक्षेपों का विवरण दिया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन जैनगणित में आधुनिक समुच्चय
गणना के बीज विद्वान ये किंतु समृद्धि परिभाषी शब्दवाली (Terminology) के अभाव
में आधुनिक विचार उसे हुदंग नहीं कर पा रहे हैं। प्राचीन शब्दवाली एवं एतिहासिक वर्तमान
शब्दवाली अत्यधिक मतभेद है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि राशि शब्द संदर्भित गणना में समुच्चय के अर्थ में
प्रयुक्त हुआ है। इस तथ्य को अस्वीकार करने पर जैन गणित का एक अतिविश्लेष एवं अभित्योक्त
अथवा, कर्म सिद्धान्त का गणित, उपेक्षित रहा जाता है। यहू तथ्य भी हमारी विचारधारा को पुनः
करता है।

5. कलासवर्ण (सं० कलासवर्ण) — 'सिरों से सम्बन्ध गणित का व्यक्त करने वाला यह
शब्द निविद्वार है क्योंकि वक्ताली सन्तीर्षित से महावीरस्वरूप (८५०ई.सं.) पर्यन्त यह शब्द मात्र
इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जो संख्या पूर्ण न हो अर्थात् हो उसे समान करना कला संस्कृत यहू
कहलाता है। इसे समच्छेदकरण, संवेणण और समच्छेद विधि भी कहते हैं। कला शब्द का प्रयोग
तिलोकप्रणाली में भिष्म के अर्थ में हुआ है। जैसे एक बड़े तीन को “एकका तिलोक” ६ से व्यक्त
किया गया है, उत्ता कला संवेणण के अर्थ के अनुसार सिरों और अध्य परिक्रमा, भिन्नता के अर्थ
का संकलन प्रस्ताव एवं विविध जातियों का विवेचना आ जाता है।

6. आवेदवापति (सं० आवेदवापति) — इसे गुणाकार भी कहा जाता है। अभयदेवसुरि
ने इसकी व्याख्या प्राकृतिक संख्याओं का गुणन या संकलन के हेतु में की। ७ इसका निर्देशी
व्यवहार रूप में करते हुए बताया गया कि यदि पहले जो संख्या सोची जाती है उसे गणक,
इकायामुक्त गणने करने वाली संख्या बाच्चा जब इस संख्या कहें तो पहले गणक संख्या को इस
संख्या से गुणा करते हैं, उसमें फिर इसे मिलाते हैं, उस संख्या को पूनः गणक से गुणा करते हैं।
तदनत्तर गुणनखोज में इस के दूरगति के माध्यम में भाग देने पर गणक का योग आ जाता है। अर्थात् यदि
गणक = n, इस = x तो प्राकृतिक संख्याओं का योग

\[ S = \frac{n(nx+x)}{2x} \]

इसी को विविध दिशाओं, वाच्चा, बाच्चा, यावत-यावत राशि कहते हैं। इस सम्पूर्ण क्रिया को
यावत-यावत कहते हैं।

जैन ने लिखा है कि ‘इस क्रिया का प्रयोग उन सीमाओं को व्यक्त करता है जिन परिणामों
को विस्तृत करना होता है; अथवा सरल समीकरण को रचना करनी होती है। इसका अर्थ जहाँ

1. देखे सं० २–६, पृ० २।
2. सिद्धांताणि-२११२।
3. ‘अवृत्त तावति वा गुणा कटिति वा एण्टा’ स्थानां बृत्ति-पत्र ४७१।

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org
The Word Yāvat Tāvat is the word for the unknown quantity in ancient Hindu Mathematics and provides the algebraic symbol Yā(या). It is difficult to account for this except by saying that it means the Science of Algebra in however rudimentary form it may have existed. Besides the problem on indices in a general form. This subject may have included solutions of the problems of Arithmetics by assuming unknown quantities simple Summations.

In the identification of the remaining terms (last five). The commentator is not only of no help but is, on the other hand, positively misleading.

I venture to presume that the term Yavat-Tavat is connected with the rule of False position which in the early stage of Science of Algebra in every country, was the only method of solving linear equations. It is interesting to find that this method was once given so much importance in Hindu Algebra That the section dealing with it was named after it.

References:

1. देवेन स० ८, पृ० १७ ।
2. वहैं पृ० ४६ ।
3. देवेन स० १३, पृ० २६ ।
4. देवेन स० १०, पृ० ४८,४९ ।
5. देवेन स० १३, पृ० १२२ ।
6. देवेन स० १३, पृ० १२२ ।
इस प्रकार आपने यात्रु तावतो को सरल समीकरण से समझ किया। जो उचित ही है।

क्योंकि—

\[ S = \frac{n(x+x)}{2x} \]

में से \( x \) काम लेकर अंत एवं अंत में से काट देने पर यह बनता है जो कि प्राकृतिक संख्याओं के योग का सूत्र है। \[ S = \frac{(n)(n+1)}{2} \] यह विषय तो परिक्रम के अन्तर्गत आ ही जाता है। अतः दत्त की व्याख्या विचार अधिक तकरारसंगत है।

7.8.9 वर्गो, घनो, बघवगो ( वर्ग, घन एवं चतुर्घात):—

अभिधान राजेन्द्र में इन तीनों शब्दों की व्याख्या आधिकारिक उद्देश्यों सहित दी गई है जहाँ इनके अर्थ क्रमशः वर्ग, घन, चतुर्घात कहा गया है। अभिधारण ने भी अपने शोधप्रबंध में बहु के उल्लेखों को संक्षिप्त किया है। उन सबसे स्वाभाविक रूप में यह प्रतीत होता है कि ये शब्द निश्चित रूप से वर्तमान में प्रचलित अर्थों ( व्याख्यात अर्थ नहीं) में ही प्रयुक्त हुये हैं। किन्तु यहाँ भी हम अपने पूर्वतंत्र को उद्धृत करते हैं जब बहु एवं घन करना ये दोनों क्रियाओं निकालने में आ जाती हैं तब उन्हें अवधारणा विषय के रूप में प्रतिष्ठित करने का क्रिया बीच रहता है। बुद्ध अनुयोगिक पुत्र, उपराधों से बाद प्राचीन प्रत्येक में जब घातांकों के सिद्धांत उपलब्ध हैं और उनमें 12वीं घात तक के प्रयोग निदिष्ट हैं—सब चतुर्घात को ही क्रियाओं विशेष महत्व दिया गया। ध्वनि में निश्चित संवर्गित को फ़र्मार्क में 296 तक को घात आ जाती है। चतुर्घात घात निकालने की क्रिया वर्ग करने की क्रिया को पुनरावृत्ति के समतुल्य है। जैनमण्डित वर्ग एवं घन करने की अर्था अधिक जटिल फिल्मों वर्गमूल एवं घनमूल निकालने में विशेष सिद्धांत वै यदि वर्ग एवं घन को स्वतंत्र विचार के मान्यता दी गई तो उन्हें भी दो जानी चाहिये। लेफ्ट ऐसा नहीं किया गया। आखिर क्यों?

संभवतः उपर्युक्त प्रकरणों एवं अन्य कारणों को ही दृष्टिगत करते हुए दत्त ने भी लिखा कि—

‘I have no doubt in my mind that ‘Varga’ refers to quadratic equation ‘Ghan’ refers to cubic equation and ‘Vargavarga’ to biquadratic equation’.

यद्यपि आज के उपलब्ध भाषागों में हमें घन समीकरण एवं चतुर्घात समीकरण के स्पष्ट उलेख नहीं मिलते किन्तु वर्तमान में अनुपलब्ध प्रत्येक में उनका पाया जाना स्वाभाविक नहीं है। आधिकारिक बान के आधार पर रचित गणितसार संस्कृत में तो ऐसे उलेख प्रचुर हैं अतः दत्त का कथन असत्य नहीं कहा जा सकता है। आयांगरों एवं जैन ने भी उनका समर्थन किया है।

1. अनुयोगिक पुत्र-142।
2. ध्वनि, पुत्र-3।
3. देख सं-32, 393।
4. देख सं-13, 208।
86

मृत्युदेव ब्रजस्वाला


dh

10. विक्षेपण या कपोळ (विकल्प या कल्प) — पाठ (१) को स्वीकार करते हुए अभयदेव-सुरि ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि इससे लकड़ी की चिराई एवं पत्थरों की चिनाई का ज्ञान होता है। पाठीगणित में इसे कक्षिका यथवहार कहते हैं। अभयदेव ने इसको उदाहरण से भी समझाया है।

स्थानांगमुरू से सभी उपलब्ध संस्करणों में हमें यही पाठ एवं अर्थ मिलता है किन्तु दत्त, कापड़िया, उपाध्याय, अच्छाल एवं जैन आदि सभी ने इसे (२) रूप में उद्धृत किया है एवं इसका अर्थ विकल्प (गणित) किया है। विकल्प एवं मंग जैन साहित्य में क्रमचय एवं संचय के लिये आये हैं। जैन प्रमों में इस विषय को विशुद्धता एवं विशिष्टता के साथ प्रतिपादित किया गया है।

कक्षिका यथवहार, यथवहारों का ही एक भेद होते तथा विकल्प (अथवा मंग) गणित के विषय का दार्शनिक विषयों की व्याख्या में प्रबुद्ध एवं अर्थव्याप्त स्वाभाविक रूप से प्रयोग, यह मानने को विवश करता है कि विकल्पगणित जीवनायों में ही नहीं अपितु प्रबुद्ध भाववशों के जीवन में भी रच-पच गया था, तभी तो विषय के उल्लेख ही वे विकल्पगणित के माध्यम से उसे समझाने लगते थे। ऐसी स्थिति में विकल्पगणित को गणित विषयों की सूची में भी समाहित न करना समीचीन नहीं कहा जा सकता। उल्लेखनीय है कि विकल्प गणित कोई सरल विषय नहीं था तमो तो अन्य समकालीन लोगों ने इसका इतना उपयोग नहीं किया। जैन ही इसमें लापत को प्राप्त थे। अतः विक्षेपण का अर्थ विकल्प (गणित) होता है।

विषय के समापन से पूर्व विषय से समबद्ध कवित अथवा महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख भी आवश्यक है। जैन प्रमों में चर्चित गणितीय विषयों की जानकारी देने वाले एक अन्य गाथा शोलांक (१६वीं शताब्दी) ने सूचकात्मक को टीका में पुढ़रीक शब्द के निःशेष के अवसर पर उद्धृत की है। गाथा निधनवृत्त है—

परिक्रम रज्जु रासी बवहारे तह कल कवाण (सवाने) य।।५।।
(पुदगल) जावत तावत चवर य चवरे वग वगवाव ची।।

टीका के सम्पादक यहूदिय ने उपयुक्त गाथा को संस्कृत छाया निभन प्रकार की है।

परिक्रम रज्जु, राशिय अत्यवहारस्तया कलासवर्ण्याः
पुदगला: यावतावलु भवन्ति चवर च्वरूण वर्ग: वर्गूणलः।।—(६)

(५) इससे स्पष्ट है कि इस गाथा में भी विषयों की संख्या २० ही है किन्तु उसमें स्थानांग में आई गाथा के विक्षेपण के स्थान पर पुढ़रीक शब्द आया है। अर्थात् यहाँ पुढ़रीक दो गणित अवधान का विषय माना गया है, विनियम को नहीं। श्रेष्ठ न प्रकार स्थानांग के समान ही है।

1. कल्पनेश्वर गणित कविताएँ काठमांडू छेत्र देता विविधस्वादु जे गणित
2. सूचकात्मक—अध्यायया, अध्यायया—२, अध्यायया—१५४।
3. टीका सं०—३ पृ० १२०।
4. घाण, पृ० १६५।
बोस ने अपनी पुस्तक में उपयुक्त गाथा (६) को उद्धृत किया है किन्तु उसके आधार पर नौ जो विषयों की सूची बनायी है उसमें पुड़गल को उल्लिखित विकल्प गणित को सम्मिलित कर दिया है अथवा यह कहा जाये कि स्थानांतर वाली गाथा के विषयों को दे दिया। इसका क्या कारण है? संभवतः वृद्धि ऐसा हुआ है।

संस्कृत छाया को देखने से स्पष्ट है कि गणित अध्ययन के विषय ११ हैं, अर्थात् परिक्रम, व्यवहार, राजनीति, विद्या, व्याख्या, पुड़गल, यावदुत्त, घन, घनमूल, नग, और नगमूल।

पुनः इसके कारण मूल गाथा (५) में कहीं कुछ ऐसा नहीं है जो मूल शब्द को ध्वनित करता हो। इसलिए भी लिखा है—

There is nothing in the either form which could be inferred a reference to roots (mūla). Above all by that interpretation, he has made the number of topics for discussion to be eleven against the express injunction of the Canonical works that they are all together ten. So we shall reject the rendering of the verse (Sanskrit version).२

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या पुड़गल को गणित अध्ययन का विषय माना जाये? इस संदर्भ में हम दोहरवे ने तो स्पष्ट लिखा है कि—

Pudgalā as a topic for discussion in mathematics is meaningless.१

किंतु विचारणीय यह है कि यह निष्कर्ष आप के द्वारा तब दिया गया था जब कर्म सिद्धांत का गणित प्रकाश में नहीं आया था। उस समय तक �Relativity के संदर्भ में जैनाचार्यों के प्रयास भी प्रकाशित नहीं हुये थे। आज परिवर्तित स्थिति में यह निष्कर्ष इतनी सुगमता से गले नहीं उतरता। क्योंकि अनुसंधायत विश्लेषण गणित, राजा गणित (Set theory) आदि का मूल तो पुड़गल ही है। मापन की पढ़तियों तो यहीं से प्रारम्भ होती हैं। एक तथ्य यह भी है कि तीव्र ने भी तो इसे किसी प्राचीन ग्रन्थ से ही उद्वौद्ध किया होगा। लेकिन समस्तय यह है कि पुड़गल को गणित का विषय स्वीकार करते बिकल्प छूट जाता है। जबकि बिकल्प तो अवयविधि एवं विकल्प रूप से जैन ग्रन्थों में आता है। यहाँ हमें बिकल्प माथ्य का एक परिक एक अंश मदद करती है।

“भंग गणिताइ गमिनक”३

मलयनिरी ने इसको व्याख्या करते हुए लिखा है कि भंग (बिकल्प) एवं गणित अलग-अलग हैं।४

संस्कृत में यह विषय विचारणीय है एवं अभी यह निर्णय करना उपयुक्त नहीं है कि पुड़गल को गणितीय अध्ययन का विषय व्यवस्थित किया जाये अथवा नहीं।

स्थानांतरसूत्र के ही चतुर्थ अध्याय में एतरविषयक एक अलग गाथा प्राप्त होती है। गाथा निम्नवतः है—

१. देखे सं ३०-२, पृ १५८।
२. देखे सं ३०-३, पृ १६०।
३. नहीं, पृ १२०।
४. बिकल्प भाष्य, १४३।
५. देखे सं ३०-१०, पृ १३३ एवं XIII।
अनुपम जैन एवं सुरेशचन्द्र अग्रवाल

चिन्तिति संक्षेपे पण्णते तं जहा।
परिक्रमा चब्बाहारे रज्जु रासी।

इस गाथा पर अद्वितीय किसी ने ध्यान नहीं दिया है। एक ही ग्रन्थ में दो प्रकार के उलेख क्यों हैं? संख्याने के चार प्रकार पिछले पृष्ठ पर उद्धृत दल के निष्कर्ष के प्रतिकूल हैं। क्या यहाँ संख्याने से कोई संबंध अर्थ ध्वस्त होता है? अथवा क्या यहाँ पर इंगित संख्याने के प्रकार कोई विशेष गुण रखते हैं? इस विषय पर अभी और व्यापक विचार विमर्श अपेक्षित है।

1. Agrawal, N. B. — 'गणित एवं ज्योतिष के विकास में जैनाचार्यों का योगदान' आयरा वि० वि० में प्रस्तुत शोष-प्रवर्ण १९७२।
2. Bose, D M. & — 'A Concise History of Sciences in India'
Sen, S N. — I. N. S. A.—New Delhi. 1971
3. Dutt, B. B — 'The Jaina School of Mathematics' B. C. M. S. (Calcutta). 21 pp. 115-143, 1929
4. Dutt, B. B & Singh A. N. — 'हिंदी गणित शास्त्र का इतिहास' (हिंदी संस्करण) अनु० वि० कपालिक कुकुल—५० प्र० हिंदी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, १९६५।
6. Jain, L. C. — 'तिलोकप्रणति का गणित' अन्तर्गत जनेटकृष्णप्रणतिराजाते, जैन संक्षिप्त संस्कृत संस्थान, शोलापुर १९५०।
8. Jain, L. C. — 'अमावतों में तिलोक गणितीय सामग्री एवं उसका मूल्यांकन' 'तुलसी पूजा' लाड़ूँ पृ० ३५—७४, १९८०
11. Upadhya, B L — 'प्राचीन भारतीय गणित' विज्ञान भारती, विल्लो १९७१
12. Shah, A L — 'जैन साहित्य का बृहद हितहास—भाग ५ पा० वि० शोष-संस्कृत, शोलापुर १९६९।
14. — — अंग सुताणि—भाग १, जैन विश्व भारती, लाड़ूँ १९७५
15. — — ढारण (स्थानांग सूत्त) ढीक, जैन विश्व भारती, लाड़ूँ १९८०
16. — — तिलोकप्रणति—सदीक जैन संक्षिप्त संस्कृत संस्थान, शोलापुर १९४४
17. — — गणितसार संस्कृत (हिंदी संस्करण) जैन संक्षिप्त संस्कृत संस्थान, शोलापुर १९६२

१. ढारण ५, सूत्र, ५०५, पृ० ४२८।
जनधर्म में नैतिक और धार्मिक कर्त्तव्य का स्वरूप

डा० सागरमल जैन

मौरल आब्बीगियानू के लिए हिंदी भाषा में नैतिक प्रभुशक्ति, नैतिक बाध्यता, नैतिक दायित्व या नैतिक कर्त्तव्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः मौरल आब्बीगियानू दायित्व-बोध या कर्त्तव्य-बोध की उस स्थिति का सूचक है जहाँ व्यक्ति यह अनुभव करता है कि “यह मुझे करना चाहिए।” पाषाण नीतिवेदाभि के अनुसार नैतिक कर्त्तव्य का स्वरूप “यह करना चाहिए” इस प्रकार का है, न कि “यह करना होगा।” पाषाण वर्तमान में नैतिक कर्त्तव्य का “चाहिए” (ought) के रूप में और धार्मिक कर्त्तव्य को “होगा” (must) के रूप में देखा गया; क्योंकि धर्म को ईश्वरीय आदेश माना गया। जबकि भारतीय परम्परा में और विशेष रूप से जैन परम्परा में नैतिक और धार्मिक दोनों ही प्रकार को कर्त्तव्य का प्रकृति एक सीमान्तिक रूप के रूप में है, उसमें चाहिए का तत्त्व तो है, किन्तु, उसके साथ एक बाध्यता का भाव भी है। उसमें “चाहिए” (ought) और “होगा” (must) का सन्दर्भ समन्वय है। उसका स्वरूप इस प्रकार का है—यदि तुम ऐसा चाहते हो तो तुम्हें ऐसा करना होगा अर्थात् यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो तुम्हें समय चारित्र का पालन करना होगा। उसमें बाध्यता से भी स्त्रृतता निहित है। इसका कारण यह है कि भारतीय परम्परा में और विशेष रूप से जैन और धर्म परम्पराओं में धर्म और नीति के बीच कोई विस्माय रेखा नहीं हैं। और उसमें एक दूसरे से पृथक् भावना माना गया है। पुनः जैन वर्तमान के अनुसार नैतिक और धार्मिक दोनों शब्दों के प्रति कर्त्तव्य का उद्देश्य आदेश होता हैं। यथाप्रति तत्त्व सिद्धांत एक बाध्यविधेय नियम है, किन्तु, उसका नियमक-वर्तमान रूप आदेश होता है। कर्म नियम पर आदेश को यह नियमकता उसकी आदेश की पवित्रता के साथ बढ़ती है।

जैन परम्परा में तीन प्रकार की आदेशें मानी गईं हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इसमें बहिरात्मा इन्द्रियवाद आदेश है और अन्तरात्मा विबेकवाद आदेश है। नैतिक और धार्मिक प्रभुशक्ति के प्रकार की दायित्ववाद का कर्त्तव्य का स्वरूप उद्देश्य विवेकवाद आदेश से होता है, जो इन्द्रियवाद आदेश को वैसा करने के लिए बाध्य करती है। जैन वर्तमान और जैन इतिहास में एकमत है कि सम्पूर्ण नैतिकता और धार्मिकता दायित्व के चेतना का आदेश कर्त्तव्य के विधान से उत्पन्न विवेकवाद अन्तरात्मा की तीन वैद्यक है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ मिल का आन्तरिक आदेश मानव स्वयंसृत नहीं है वहाँ जैन वर्तमान का आन्तरिक आदेश भावना और विवेक के समन्वय में उद्दृष्ट होता है। वह कहता है कि यदि, तुम्हें अनुभव आदर्श को प्राप्त करना है तो अनुभव प्रकार से आदेश करना होगा। सम्युक्त चारित्र का विकास सम्यक्षरण (भावना) और सम्यक्ष्राण (विवेक) के आदेश पर होता है। सम्यक्षरण और सम्यक्ष्राण नैतिक और धार्मिक कर्त्तव्य के लिए एक आदेश प्रस्तुत करते हैं, परिष्ठमात: आदेश सम्यक्षरण (सदाचार) की दिशा में प्रवृत्त होता है।
जूहक जैन दर्शन किसी ऐसे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है, जो "कर्म के नियम" का नियमण या अभिशास्त्र है, अतः उसमें नैतिक और धार्मिक वात्यता बाहर आदेश नहीं अपनी, कर्म नियम की इश्वर वात्यात्मक का ही आदेश है। उसमें वात्यता तो है, किंतु, यह वात्यता निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है।

जैन दर्शन के अनुसार वस्त्र स्वभाव को ही धर्म कहा जाता है और यदि वस्त्र स्वभाव ही धर्म है, तो धार्मिक कर्त्तव्यों की वात्यता का उदार धार्मिक वात्यता से जोड़कर अन्तर्द्वय होगा। जैन दर्शन में आत्म का स्वभाव "समता" बताया गया है। अतः "सम्भव की साधना" की कर्त्तव्यता का आधार बाहरी न होकर आन्तरिक है। इसी प्रकार, प्राणशैली एवं साधना का स्वाभाविक गुण जिज्ञासा है और अहिंसा का नैतिक कर्त्तव्य। इसी जिज्ञासा के कारण हैं। कहा गया है—"सभी जीवन चाहते हैं कोई मरना नहीं चाहता।" अतः प्राण-विध का निषेध किया गया है। इस प्रकार जैन धर्म में बाह्य सम्भव की साधना की कर्त्तव्यता का प्रश्न ही या अहिंसा के व्रत के पालन का प्रश्न हो, उनकी वात्यता अन्तरात्मा से ही आती है, यह किसी बाह्य-व्यवहार पर आधारित नहीं है।

जैन धर्म में नैतिक और धार्मिक कर्त्तव्यों की अभिशास्त्र

सामाजिकता कुछ पारंपरिक रूप से धर्म और नैति के बीच एक विभाजक रेखा बनती है और इसी आधार पर वे नैतिक और धार्मिक कर्त्तव्यों में भी अंतर करते हैं। ये नैतिक कर्त्तव्य को "कर्म चाहिए" रूप में और धार्मिक कर्त्तव्य को "कर्म चाहिए" रूप में लेते हैं। किंतु, सामाजिक रूप से भारतीय धार्मिक और विशेष रूप से जैन धार्मिक नैतिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों का अभिवृत्त रूप से ही प्रभावित करते हैं। जैन धर्म और नैतिक के बीच कोई सीमा रेखा नहीं लेंते हैं। भारत में धर्म शब्द का व्यवहार अभिवृत्त रूप में कर्त्तव्य एवं साधन के अर्थ में ही हुआ है और इस प्रकार यह नीतिशास्त्र का प्रत्यय बन जाता है। भारत में नीतिशास्त्र के लिए धर्म शब्द का ही प्रयोग हुआ है। धर्म और नैतिक में यह विभाजन मृत्युदण्ड के भावात्मक और संकल्पात्मक पक्षों के आधार पर किया गया है। पारंपरिक विचारधारा यह मानते हैं कि धर्म का आधार विश्वास या अर्थ है, जबकि नैतिकता का आधार संकल्प है। धर्म का सम्भव हमारे भावात्मक पक्ष से है, जबकि नैतिकता का सम्भव हमारे संकल्पात्मक पक्ष से है। संयुक्त एक ही धर्म का अर्थ है, जिस प्रकार भूत एक नैतिक अर्थ है, उसी प्रकार धर्म भी एक सांस्कृतिक अर्थ है। विलियम जैम्स का कहना है कि "यदि हमें धर्म का कोई निर्धित अर्थ है तो हमें उसे भावात्मक में अंतर और उस भावात्मक के अर्थ में लेना चाहिए। जहाँ तपासर्थित नैतिकता किवृतिस्थर दार्शनिक होती है और रात छोड़ देती है।" वस्तुतः भारत में धर्म और नैतिकता दो अलग-अलग अर्थ नहीं रहते हैं। मानवीय चेतना के भावात्मक और संकल्पात्मक पक्षों को बाहरक हमारे एक दूसरे से पृथक् देखा जा सकता है, किंतु, उसमें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। भावना, विचारक और संकल्प, मानवीय चेतना के तीन पक्ष हैं। जूहक मनुष्य एक सम्बन्ध है, अतः ये तीनों पक्ष एक दूसरे से समस्त मिल जुल गए हैं। इसलिए, मैथु आर्केड को यह कहना पड़ा था कि मानव-नैतिकता ही महत्त्वपूर्ण है। पवित्र में यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण रूप से चित्रित रहा है कि धार्मिक और नैतिक कर्त्तव्यों में कौन प्राथमिक है? डेकार्ट, लॉंग प्रभुति अनेक विचारक
जैनधर्म में नैतिक और धार्मिक कार्यवात का स्वरूप

लेखक नियमों के ईश्वरीय आदेश से प्रतिफलित नामांक तथा इस अर्थ में वे धर्म को नैतिकता से सम्बन्धित नामांक तथा इस अर्थ में जब कॊण, मात्र आदि नैतिकता पर धर्म को अविष्टित करते हैं। कॊण के अनुसार धर्म, नैतिकता पर आधारित है और ईश्वर का अनुसूचित नैतिकता के अनुसूचित के कारण है। जब तक भारतीय जितन और विशेष रूप से जैन धर्म में स्वार्थ है वे धर्म और नैतिकता को एक दृष्टि से पृथक् नहीं करते हैं। आचार और धर्मों के रूप में नैतिक द्रष्टा धर्म के साथ जुड़ी हुई है। जैन धर्म की भावना में कहें तो दोनों अन्य आदिक्षण हैं। सम्यक्याचारित्र का आचार सम्यक्याचारित्र है और सम्यक्याचारित्र के अभाव में सम्यक्याचारित्र भी नहीं होता है। सदृचरण के बिना सम्यक्य भ्रष्टा और सम्यक्य ध्रुवा के बिना सदृचरण सम्भव नहीं है। धर्म न तो नैतिकता भ्रष्ट है और न तो नैतिकता ध्रुवविन्ध यौगिकता के श्रेणियों में यह असम्भव है कि एक व्यक्ति धार्मिक होते हुए नैतिक आचरण करे। ऐसी स्थिति में या तो वह धर्म का दोष कर रहा है या उसका धर्म ही मिथ्या है। कुछ लोग धर्म और नैतिकता का अन्तर इस आचार पर करते हैं कि नैतिकता का क्षेत्र शुभाश्ववृत्ति का क्षेत्र है। जब तक शुभ और अशुभ का संरचन है वहाँ तक नैतिकता का क्षेत्र है। धर्म के क्षेत्र में शुभ और अशुभ का इंद्र समाहार हो जाता है। यथास्थित नैतिक तभी युक्ति जाता जाता है, जबकि व्यक्ति अशुभ से पृथकतया बिरल हो जाते हैं और वह अशुभ भी नहीं रहता। जैन धार्मिकों में आचार उपधर्म के नाम पुष्प (शुभ) और पाप (अशुभ) का उपधर्म उठते हैं निद्रा का विचार है। यद्यपि, हमें यह स्पष्ट लगता है कि अशुभ से निर्वाण के लिए प्रथम शुभ की साधना आवश्यक है। धर्म के क्षेत्र पुष्प-पाप के अवस्थन का क्षेत्र है, अतः यह नैतिकता से उपस्थित है, फिर भी हमें यह मानना होगा कि धार्मिक होने के लिए जिन कार्यों का विनियम किया गया है वे स्वरूपनैतिक है। जैन धर्म के रूप से भी हो। जब धर्म के रूप भी हो। जब धर्म के पारंपरिक धर्म के पंचशिलों और धर्म दर्शन के सूचन से साधना-क्षेत्र नैतिकता का सामान्य क्षेत्र है। भारतीय परम्परा में धार्मिक होने के लिए नैतिक होना आवश्यक है। इस प्रकार आचरण की व्यवस्था नैतिक-कार्यवात प्राथमिक है और धार्मिक-कार्यवात परामर्शी है। यद्यपि, नैतिक और धार्मिक दोनों धर्म के कार्यों की बाध्यता का उद्देश्य कम के नियम से होता है, अतः इन कार्यों की बाध्यता का उद्देश्य मूलतः धार्मिक ही है।

कच्च पालन वैधानिकों की यह मानता है कि बिना धार्मिक कार्यवात का पालन किए भी धार्मिक सदृचरण हो सकता है। सदृचरण जीवन के लिए धार्मिकता अनिवार्य तथा नहीं है। आधार सामाजिकों दशा में इसी वैधानिकता में नैतिकता का पाठ पढ़ाया जाता है। यदि धर्म का अर्थ किसी वैधानिक ईश्वर के प्रति आश्चर्य या पूजा के खिया-काफेड़ों तक सीमित है, तब तो यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति धार्मिक है या भी नैतिक हो सकता है। किन्तु, जब धार्मिकता का अर्थ हो सदृचरण हो तो फिर यह सम्भव नहीं है कि बिना सदृचरण जीवन कोई व्यक्ति धार्मिक हो जाये। जैन धर्म हमें धर्म की जो आध्यात्मिक देता है वह न तो किसी वैधानिक ईश्वर के प्रति आश्चर्य का बात कहता है और न धर्म की कुछ खियता-काफेड़ों तक सीमित रहता है। उसने धर्म की परिसंपत्ति करते हुए चार दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं—

(१) वस्तु का स्वभाव धर्म है; 
(२) क्षमा आदि सदृचरण का आचरण धर्म है;
(३) सम्यक ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही धर्म है; और

(४) जीवों की रक्षा करना ही धर्म है।

यदि हम इन परिभाषाओं के सन्दर्भ को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक होना और नैतिक होना यह हो अलग-अलग तथ्य नहीं है। धर्म नैतिकता की आधारभूमि है और नैतिकता धर्म की बाह्य अभिव्यक्ति। धर्म नैतिकता की आत्मा है और नैतिकता धर्म का शरीर। अतः जैन विचारक धार्मिक और नैतिक कर्तव्यता के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींचते हैं। उनके अनुसार आत्माक निम्नपूर्वक सदाचार का पालन करना अर्थात नैतिक दायित्वों या कर्तव्यों का पालन करना ही धार्मिक होता है।

जैन धर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता का व्यावहारिक पक्ष

जैन धर्म में हम नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता में कोई विभाजक रेखा खींचना चाहेंगे तो उसे सामाजिक कर्तव्य के और धार्मिक कर्तव्य के अधार पर ही खींच जा सकता है। हमारे कर्तव्य और धार्मिक दो प्रकार के होते हैं, एक जो दूसरों के प्रति है, और दूसरे जो अपने प्रति है। जो दूसरों अर्थात समाज के प्रति हमारे दायित्व हैं वे नैतिकता की परिसीमा में आते हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिक्रय के बाह्य या व्यवहार पक्ष है। उसका पालन नैतिक नैतिक कर्तव्यता है, जबकि समाज, देशभाषा या साक्षात्कार जिसे जैन परिभाषाकार शब्दावली में बुआमिक कहा गया है, की साधन हमें धार्मिक कर्तव्य है। जैन धर्म में आचार के और पूजा-उपासना के जो दूसरी प्रक्रियाएं हैं, उनका महत्व या मूल्य इसी बात में है कि समाज जो हमारा सतह स्तवभव के उपरिवर्ती में किसी सीमा तक सहायक है। यदि, हमें जैन धर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता को अति संकेत में कहना हो तो उन्हें कमांड़: “अहिंसा” और ‘समाज’ के रूप में कहा जा सकता है, उसमें अहिंसा सामाजिक या नैतिक कर्तव्यता की भूमिका है और समाज ( सामाजिक ) धार्मिक कर्तव्यता की सूचक है।

निदेशक, पाठ २० शौच संस्थान
वाराणसी-५
अप्रकाशित प्राकृत शतकत्रय—एक परिचय

डॉ. प्रेम बुमन जैन

श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, उज्जेन के ग्रंथ भण्डार का जुलाई, १९८४ में अव-लोकन करते समय प्राकृत भाषा में रचित शतकत्रय की एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। यह पाण्डुलिपि वि० सं। १९८१ में आशिवन युद्धी चतुर्भी, बुधवार को लिखी गयी है। इसमें रचनाकार और रचना-काल का उल्लेख नहीं है। यह एक संग्रह प्राम्य प्रतीत होता है। इसलिए इसमें लेखक या संपादकों का नामोलेख नहीं है। प्राकृत साहित्य के इतिहास में भी ऐसे किसी लेखक का नाम नहीं मिलता, जिसने शतकत्रय की रचना की हो।

इस पाण्डुलिपि में कुल ३२ पने अथवा ६४ पृष्ठ हैं। बड़े अधिकों में दूर-दूर लिखावट है। एक पृष्ठ में प्राकृत की कुल ७ पंक्तियाँ हैं। लगभग ६ शब्द एक पंक्ति में हैं। पने लगभग ११ इंच लम्बे एवं ८ इंच चौड़े हैं।

इस प्राकृत शतकत्रय में प्रथम इंद्रियशतक, द्वितीय बैरायशतक एवं तृतीय आदिनाथशतक का वर्णन है। शतकत्रय से भुवुरि के शतकत्रय का समरण होता है, जिसमें नीति, बैराय और आदिनाय शतक सर्वार्थित हैं। उनसे इस प्राकृत शतक का कोई समर्थण नहीं है। केवल नाम-सामग्री है। जैन आचार्यों में बहतरगच्छ में जिनभुवुरि के शिष्य देहुदुपुरुष श्री बनदाराज सादपाटी ने सं। १४९० में संधारित में एक शतकत्रय की रचना की थी।१ तलं यह शतकत्रय संस्कृत माना में है। इसमें भुवुरि के अनुसरण पर नीति, बैराय एवं आदिनाय शतक की ही रचना की में है। जैन आचार्यों के अनुसरण पर नीति बैराय एवं आदिनाय शतक की ही रचना की है।२

प्राकृत शतकत्रय की एक साथ कोई दूसरी पाण्डुलिपि की सुचना अभी तक प्राप्त नहीं है। अतः इसी उज्जेन भण्डार की पाण्डुलिपि के आधार पर इन तीनों शतकों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—इंद्रिय शतक

'इंद्रिय शतक' नामक पाण्डुलिपियाँ कई जैन भण्डारों में उपलब्ध हैं।३ निम्नलिखित ग्रंथ भण्डारों की प्रतियाँ प्राकृत भाषा की हो सकती हैं—

१. बैलुकर, एच० डी०; जिनरलकोश, पृ। ३७०।
२. (क) काल्पनाला के गुण० १३ ता। ६९ में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित।
(ख) नाहटा, नगरनद; 'जैन शतक साहित्य' नामक लेख पुरुष गोपालदास बरेय श्रीमति प्राम्य सागर, १९६७, पृ। २४-२५।
३. जिनरलकोश, पृ। ४०।
(१) मण्डरकर अविनंत्ति रिस्च्र इन्स्ट्रीट्यूट, पूता, कलेक्शन नं. पौंचवा (१८८४-८७) ग्रन्थ नं. १५७०।

(२) लीबडी जेन ग्रन्थ भंडार, पोशी नं. ५७८।

(३) जैनानन्द ग्रन्थ भंडार, गोपीपुरा, सूरत, पोशी नं. १६४८।

भीमसे मानेंक, बाबू द्वारा ‘प्रकरणरत्नकर’ के भाग चार में एक ‘इंद्रिय पराजय शतक’ प्रकाशित हुआ है। यह पुस्तक देखने को नहीं मिली। हो सकता है इसका और प्राकृत इंद्रियशतक का कोई सम्बन्ध हो। रचनाकार के नाम का उल्लेख कहीं नहीं है। इंद्रियपराजय शतक पर सं. १६६४ में गुणविनय ने एक ठीक भी लिखा है।

प्राकृत इंद्रियशतक का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

आदि अंश

ॐ नमः सिद्धेश्वरस्य। इंद्रियोऽरूपिहि सया न लुकिंग अवस्था जरस्य चरणार्थ: || १ ||
भवस्य िवर्तकस्य िवस्य जित्व जिज्ञासणयािरस्वस्य || २ ||
इंद्रिय घुलियापहो तिलंतुसमित्वपि सिम्या मा पत्तरो।
ज्ञ दिन्यो: तो नोंक जल्ल खण्डो वरिष्क भोज्य कोि दस्यो। || ३ ||

अंतिम अंश

दुकरामेस: एहि कय बेहि समस्यायों जुहिरच्छदि।
भगािदियशण विविधायार्य वि लगोऽहि। || २९ ||
ते धण्या ताणं यमो वासों: ताण: संजयारायण।
अहो अहृत्यो पिरीगो जाण: न हियेयु हटकति || १०० ||
कि बदुमाण: जर ऋणध्वनि जीव तुम िश्व िसंग िसु अवहां।
ता पिसमु विराजमिहो संबेडारस्यं िविच्छिंच्छ। || १०१ ||
|| इति श्रीदियशतक समांकं।

इस इंद्रिय शतक में कुल १०१ प्राकृत गाथाएँ हैं। इन गाथाओं के ऊपर पुरानी हिंदी में टिप्पण भी लिखे हुए हैं। इनमें से कुछ उदाहरण यहाँ प्रदर्श्य हैं—

गाथा—१

सोह सुरमा पुष्य सोह पुष्य पंडित
ते हविद्व: प्रसंस्य्यो नियं।
जेह इंदियगुप्तिा चौर सदा
तेहेन नभि लुटाया चरिष्कु धनु।

१. वहीं, पौ. ४५, कान्तिविजय जी का लिखी संस्र, बड़ौदा।
गाथा—२

इंद्री मधुल तृतीय सुगमति मांग

देव याहुत उदाह सदा।

स्वभाविद भंसरसवृध्दि हंदिद

श्रीवेदरागना वचन मारगवोरीद।

गाथा—३

इतिहास यह नाह अतुम तिलवाकू कसमान वेदिमा।

पसरवा जव दीयाद तज हीराज जहहुए एक क्षण वर्तनी कोडी सरीखो दुखमय।

इस इतिहासविजयशतक मे कामभोगों के दुःखश्रावण प्रारम्भ भय नहीं है। जो जीवों को इतना मूड और अज्ञानी कहता गया है कि वे विषय-भोगों के जाल में जानते हुए भी फँस जाते हैं। क्योंकि उन्हें अपने स्वर्ग का पता नहीं है। जो स्वाभिमानी यथाकृति मृयु है ग्नाते जो का ही दीयाद वचन नहीं बोलते हैं, वे भी नारी के प्रेमजाल में फँसकर उसकी चाहुकारिता करते हैं। यथा—

मरे वि दीयाद चारण माणधरा जे तरार द ज्यादत।

ते वि हु कुपिति छलिं बालामने-कहिला।

इतिहास का एक उदाहरण देते हुए कवि कहता है कि यदववंश के पुत्र, महात्मा आत्मा, जिनेन्द्र नेमिनाथ के भाई, महाबलवंशी के, चरमावरी रथनेमी भी राजमति के विषयों की आकांक्षा करने लगते हैं। जब उस जैसा में तेजपान्त सदस्य निविचिन दयालु भी कामधूपी पवन से चंबल हो उठता तब फिर हुए पत्रों की तरह सादाध्य अन्य जीवों की गति क्या कही जायः

जवनांदों महापा जिज्ञास वायुरो चर्मदेहों।

रघुणीम रायभरो, रायभरो कासिहो विसमा।

मयापन्यों जह हिंदिसत वि सुरसंस्थितचला चलिया।

ता पक्कपत्तला दहाण सत्तास के बता।

इसीलिए विषय-कामभोगों से मन को विरक्त कर जिनभाव में अभ्यास करना चाहिए। ऐसे संयमदारी योगियों का दास बनना भी आवश्यक है।

२—वैराग्य शतक

नीति और अध्यात्म विषयक प्राकृत रचनाओं में वैराग्य शतक नामक रचना बहुत प्रचलित रही है। विधि इसका कर्ता अभी तक व्याख्यात है। इसका इस्तेमाल-जब-वैराग्यशतक' भी प्राप्त होता है। यह रचना संस्कृतवर्ती एवं मुसलमानी अनुवाद सहित ३-४ गाथे प्रकाशित हो चुकी है।

१. (क) कहरभाई गोपालदास, महमददाद, सन् १८९७।
(ख) हीरालाल हंसराज जामनगर, १९०४।
(ग) चंदरचंद राजभाई जैन पुस्तकोद्वार प्रसारण, १९४१।
(घ) स्वायत्त संस्कृत पाठशाला, बंबई, १९४८।
विन भी इसके प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करने की आवश्यकता है। उसके लिये विभिन्न पाण्डुलिपियों का मिलान करना होगा। उज्जैन के सरस्वती भवन से प्राप्त पाण्डुलिपि के नमूने के रूप में इस रचना के आदि एवं अंत की कुछ गाथाएँ यहाँ प्रस्तुत हैं।

वावि अंश

संसारमि असारे निमित सुहु वाहि वेयंगा पवरे।
जानीते इह जीवो चु गणेक जिऒ वेयंगं धर्मम्। १।
अजजं कलापुरुषां जिहा चित्ति अतिनि सप्तमं।
अंतिम-गहियीसम्म तौयं गलितिमां च विच्छिद्धः। २।
जं कलेगां कवि० तं अजजं निच्छ करे मुरमाणम।
बुधं-विवशोऽहुः हृदो मा अवरणम् पारिवेच्छे। ३।

अंतिम अंश

चतुरविनंत दुहाणन पविल्ल भवकाण्यम महाभीमि।
शेवसु रे जीव! तुम्मं जिसनियम अविवस्थितम। १०४।
विनं से भवमहूः अर्णतुः गिरम्स्र न भवंकाण।
जिसद्रमं कप्पस्व सरिस तुम्मं जीव सिवसुः। १०५।
फं बुधाण तहथथमी जहावव जह महोदिहि घोरः।
लुः तरंगमणं सुहुः लुः ह्यं जिज्ञ सासयं थान। १०६।

इति बैरायाश्चात्तक सम्पूर्णम्। दितीयम्।

इस बैरायाश्चात्तक में संसार से बैराय उद्वेग करने के लिये शरीर, यीवन और धन की अस्थिरता का वर्णन किया गया है। संसार की अशांतिपुरा के दृष्टि उपस्थित किये गये हैं। संसार के सभी सुखों की कमलपत्र पर पड़ी हुई झल की बूंद की तरह चंचल कहा गया है। इस श्लोक में काव्यात्मक बिन्दुओं का अभिक प्रयोग किया गया है। व्यक्ति के अंतिम बुधन का चित्रण करते हुए कहा गया है कि माता-पिता, भाई आदि परिवार के लोग मृत्यु से प्राणी को उसी प्रकार नहीं बचा सकते हैं जिस प्रकार सिंह के द्वारा पकड़ लिये जाते हैं। यथा—

जहें सीधों व भिंत महाय सच्च नरं गेहुः अंतकाले।

म पाया व पिय न भाया कालिम तम सहासं भवित।

इसलिये चित्तामणि के समान धर्माल को प्राप्त कर संसारबन्धन से छुटने का प्रयत्न करना चाहिये।

आदिनाथ शतक

‘आदिनाथ देवनाथश्च’ नामक प्राकृत रचना का उल्लेख मिलता है। किंतु आदिनाथ-शतक नामक हिंदु अन्य रचना अथवा पाण्डुलिपि की जानकारी नहीं है। उज्जैन के ग्रन्थ मण्डल से

१. शास्त्री. नेमिचंद्र। प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २८७।
२. जैन प्रस्तावित, पृ० २०८।
अप्रकाशित प्राकृत शतकावर्य—एक परिचय

प्रात प्राकृत का यह आदिनाथशतक नया हो सकता है। इस आदिनाथशतक की प्राकृत गाथाओं के ऊपर हिंदी टिप्पणी भी नहीं दिये गये हैं। इसका नाम आदिनाथशतक कहा दिया गया है, यह पाण्डुरिपा को पढने से जात नहीं होता। क्योंकि इसमें आदिनाथ के जीवन की कोई घटना नहीं है। जैन धर्म का प्रवृत्त होने के नाते आदिनाथ का नाम शायद इसलिये दिया गया है कि इस शतक में जो कहा गया है वह भी जैन-धर्म का मूल उपदेश हो है।

इस शतक में मनुष्य जन्म की दुर्लभता, कमजोरी की प्रबलता एवं संसार की विचित्रता का वर्णन है। अवसरण भावना को जानकर शीघ्र धर्म करने की बात इसमें कही गयी है—

अवसरण मरति इत्वा-बलदेव-बामुदेव-चक्कंद्रा।
ता एवं नाङ्गण करेंहि भम्मु तुरियं॥ २१॥

मनुष्य जन्म प्राम कर लेने पर भी धर्मबोधि का लाभ सभी को नहीं हो पाता है। कवि कहता है कि ७२ कलाओं में निगुण व्यक्ति भी स्वर्ग और रत्न को तो करीटौं में कसकर पहचान लेगा, किन्तु धर्म को करीटौं में कसने में वह व्यक्ति भी चूक जाता है। यथा—

वावतटिकला कुसला कसिणाए, कण्ठपुर्यङ्गाए।
चुकति धम्मकसणा तेरसि वि धम्मुल्लतुनेन॥ ३७॥

कवि की मान्यता है कि धर्म से ही व्यक्ति, ९ दिनियों का स्वामी, १४ रत्नों का अधिपति एवं भारत के छठु लड़का का स्वामी चक्कंद्री राजा होता है। सामान्य उपलब्धियाँ का कहना ही क्या? इस प्राची की कुछ गाथाओं के परिचय के लिये आदि एवं अन्त की गाथाएँ यहाँ दी जा रही हैं।

अथ श्री आदिनाथ जो शतकमारंभः

आदि अंश

संसारे निविष्ट सुदूर जम्मू-जरामरणरोग-सोमेंहि।
तह बिहुं मिच्छं जीवा न कुंति किंवदंवरथम्म॥ १॥
माई जाल सरिं सिरिस विज्ञानमकसकरकछरं सलवं।
सामणं खण्ड-बिन्धुं खणणं कापडविच्छरो॥ २॥
को कःस इच्छ सरगं को व परो महसुलो-भवानिम।
मच्छुबुथ भम्मति जीवा भीलीत पुणं जंग हुर॥ ३॥

अंतिम अंश

आरोग्य-धान-संयंहं सीहमासभिहं।
समायमाग्नं णं होंव विपण्य धम्मं॥ ८१॥
जज्ञा न जरा ण मच्छु वाहं ण न च सम्बन्धकाल।
सय सुयरंजं वि जीवो वंसइ तहि सच्चा-कालं॥ ८४॥
अरम्भ तुल्यग्नानो भम्मति संसार-कंतारे सम्मतजीवा।
पर्य तिरिक्षा नहुंहः काव्य सुहृदमापुतेवेहि उपजिता सिंवं जंति॥ ८५॥

॥ इति शतक विकं॥
इति श्री आदिनाथ स्वामी शतक सम्पूर्णं । शुभमिति आश्वान शुक्ल चतुर्थि बुधवासे विक्रमीयान्त १९८१ ।

इस तरह अचानक कवि द्वारा प्राकृत में रचित यह शतकतत्त्व नीति, धर्म, एवं वैराग्य विषय की एक महत्वपूर्ण रचना है। विभिन्न पाण्डुलिपियों के अध्ययन से इसका ग्रामाणिक संकल्प तैयार करने की जरूरत है। हिन्दी अनुवाद के साथ यदि इस प्रकाशित किया जाय तो स्वाध्याय के लिये यह उपयोगी प्रमाण होगा। भरतूंहरि के शतकतत्व की भांवि विद्वत्व-जगत् इस प्राकृत शतकतत्व से भी परिचित हो सकेंगे।

अध्यक्ष, जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग,

सुखार्दिया विश्वविद्यालय, उदयपुर ।

—२१, मुंदरवास

उदयपुर ( राज.)

---------------------------------------------------------------

१. इस शतकतत्व की पाण्डुलिपि की प्रासित हेतु पंड द्वारा जी शास्त्री, व्यवस्थापक, ऐि पत्नीलाल सरस्वती भवन, उज्जैन के प्रति आमार।

* इस लेख में उल्लिखित इंद्रिय (पराजय) शतक और वैराग्यसत्त्व प्रकाशित है और उनकी आदि अन्त की गाथाएँ समाप्त हैं।—सम्पादक
पाण्डव पुराण में राजनीतिक स्थिति

कृष्ण रोहत विभलोके

“पाण्डव पुराण” आचार्य शुभचन्द्र महादेव द्वारा वि० सं० १६०८ में रचित जैन पुराण है। इस प्रथम में कौरव-पाण्डवों की कथा का वर्णन जैन मान्यता के अनुसार किया गया है। जैन साहित्य में यह पुराण “जैन-महाभारत” के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि आचार्य शुभचन्द्र ने महाभारत की कथा को लेकर ही इस पुराण की रचना की है तथापि इसमें वैदिक महाभारत की कथा से पद-पद पर भेद वृद्धि किया होता है। महाभारत कथाविपणक प्रथम होने के कारण इस पुराण में स्थान-स्थान पर राजनीति सम्बन्धी बातें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। पाण्डव पुराण में हमें राज-तन्त्रात्मक राजस्व प्रणाली के दर्शन होते हैं। पाण्डव पुराण में राजनीति सम्बन्धी जिन बातों की जानकारी मिलती है वे संस्कृत में इस प्रकार हैं—

राज्य

पाण्डव पुराण के अध्याय से राज्य की उत्पत्ति के जिस सिद्धांत को सर्वाधिक बतलाया है वह राज्य सामाजिक समस्याओं के साथ संबंधित है। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य वैदिक न होने के बहुत अध्ययन के लिये व्यक्तियों द्वारा पारंपरिक समझौते के आधार पर किया गया है। इस सिद्धांत के प्रतिपादक अनुसार राजस्व के व्यवस्थापन के अनुसार राज्य व्यवस्था की तरह है, जिसके अन्तर्गत जीवन को व्यवस्थित रखने के लिये राज्य जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। इस प्राकृतिक व्यवस्था के विषय में पवित्र मतभेद है। कुछ इसे पूर्व-वास्तविक को कुछ पूर्व-राजनीतिक अवस्था मानते हैं। इस प्राकृतिक अवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अवस्था द्वारा अपने साथ साथ समस्याओं का आधार मानकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। प्राकृतिक अवस्था के स्वरूप के समस्याओं में व्यक्ति धड़ में होते हैं जो यह सभी मानते हैं कि किसी न किसी कारण मुख्य प्राकृतिक अवस्था के त्याग को विवेक हमें और समझौते के आधार पर राजनीतिक समाज की स्थापना की है। पाण्डव पुराण के अनुसार इस अवस्था को त्याग के कारण समय-समय पर समाज की साधनों की कमी तथा प्रकृति में परिवर्तन होने का है। इतने समयों के दूर करने के लिये समय-समय पर बिशेष व्यक्तियों का जन्म हुआ। इन व्यक्तियों का ‘कुलकार’ हो गया है। इसके बाद मानव विवादों के दूर करने के लिये समय-समय पर विशेष व्यक्तियों का जन्म हुआ। इनके साथ किसी न किसी अन्य की अपनी कार्य के समय-समय पर बिशेष व्यक्तियों का जन्म हुआ। इनके साथ किसी न किसी का जन्म हुआ। इनके साथ किसी न किसी का जन्म हुआ। इनके साथ किसी न किसी का जन्म हुआ। इनके साथ किसी न किसी का जन्म हुआ।

राज्य

राज्य में राज्य का महत्त्व सवर्णपर है। राज्य के अभाव में राज्य का कल्पना नहीं की जा सकता है।

1. राजनीति विधान के सिद्धांत ( पुराण जैन ) पृ. १००-१०१।
2. पाण्डव पुराण, २०१२-३४२।
3. पाण्डव पुराण, २०१०।
सकती हैं। मनु के अनुसार विना राजा के इस लोक में भय से चारों ओर चल-चल हो जाता है।

इस कारण सबकी रक्षा के लिए देवताओं ने राजा को उत्पन्न किया है। कामन्दक के अनुसार जगत की उस्तादित एवं वृद्धि का एकांत दर्शाता है जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्र को आलादित करता है। महाभारत में राजा को समाज का लक्षक बतलाते हुए कहा गया है कि प्रजा के धर्म छोड़कर मूल एकांत राज्य होता है। राजा के डर से ही मनुष्य-समाज में शार्त बनी रहती है। राजा के अभाव में कोई वस्तु निरापत्ता नहीं रह पाती। कृषि, वाणिज्य आदि राजा की मुख्यत्व या पहले निर्माण होते हैं। राजा समाज का सबबावधक होता है हमें अभाव में मनुष्य का जीवन दुःसाध्य हो जाता है। पाण्डव पुराण में राजा के महत्व को बतलाते हुए कहा गया है कि जैसा राजा होता है वैसे ही प्रजा होती है। यदि राजा धर्म छोड़कर करने वाला होता है तो प्रजा भी धर्म में निरंतर रहती है और यदि राजा पापी होता है तो प्रजा भी पापी हो जाती है और यदि राजा समानवृत्ति का होता है तो प्रजा भी वैसी ही रह जाती है। इससे स्पष्ट है कि राजा के आचार-विचार तथा धर्म-प्रदीक्षा का प्रजा पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

जैन आचार्यों में सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकार के राजाओं का उल्लेख हुआ है। सापेक्ष राजा अपने जीवन काल में ही पुत्र को राज्यभार सौंप देते हैं जिससे गृह-पुरुष की सम्भावना न रहेगी। निरपेक्ष राजा अपने जीवन काल में ही राज्य का उच्चारण करते हैं। पाण्डव पुराण में प्रथम प्रकार के सापेक्ष राजाओं की स्वप्न दुर्दिष्टापन भूमिका होती है—आदिदेव परा आदिदेव सम्राट को पीने उत्तर का राज्य तथा अन्य निवास और पुनर्नवायु देश का राज्य देते हैं। राजा सम्राट द्वारा अपने पुत्रों में समस्त राज्य विभाजित करना आदिदेव।

पाण्डव पुराण में राजा के निर्देशन का आधार प्रमुख रूप से पितृ या वंशानुक्रम ही है।

राज्य व्यवस्था

राज्यव्यवस्थाओं में राज्य को सताता माना गया है। महाभारत के अनुसार सतातय राज्य की रक्षा यथाप्रचलित की जाती है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार स्वामी, जाम, जनपद, दुर्ग, कोप, देश और सिव भी सात राज्य के अंतर्गत होते हैं, जिन्हें प्रकृति कहा जाता है, इतने भाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इसमें सभी का स्थायी महत्वपूर्ण है। महाभारत में सभी का महत्व समान बताया गया है।

1. मनुमृत्युं, ७१९।
2. कामन्दक मीमिसार, १६९।
3. महाभारत शालिपर्व ६८ अध्याय।
4. पाण्डव पुराण, १७१२६॥
5. पाण्डव पुराण, २६२॥
6. पाण्डव पुराण, ३५॥
7. महाभारत शालिपर्व, ६९१६४-६५॥
8. कौटिल्य अर्थशास्त्र, ६११।
9. महाभारत शालिपर्व, ६१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org
राज्य के जिन सात अज्ञों की बात मंत्र, कामदक, और कौमिल्या आदि ने कही है वे सभी पाण्डव पुराण में पाये जाते हैं। इतने स्वामी अथवा राजा सर्वप्रमुख हैं।

असात्य

भारतीय मनोकथाओं ने मन्नियों को बहुत महत्व दिया है। मन्नियों के सत्परामर्श पर ही राज्य का विकास, स्थिति एवं वस्त्राविलिय हिन्दू है। कौमिल्या ने असात्य का महत्व बताते हुये लिखा है कि जिस प्रकार रथ एक पहिये से नहीं चल सकता उसी प्रकार राज्य को सुचारू रूप में चलाने के लिये राजा को भी सजियुक्ष्मी हुसरे चंद्र की आवश्यकता होती है4। जून्मिल्या में महाभारत आदि प्रथमों में असात्य धर्म का महत्व वर्णित है। एवं पाण्डव पुराण में असात्य को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। असात्य राजा को नीतिपूर्ण सलाह देते थे। इतिहास इन्हें “मुक्तिविष्कार”11 कहा गया है। मन्नी राजा की प्रत्येक कार्य में सलाह देते थे। राजा अक्षमन ने पुत्री मुलकेका के लिये योग्य वर की खोज के लिये मन्नियों से सलाह की तथा सिद्धार्थ आदि सभी मन्नियों को सलाह से स्वयंसेवा विधि का आयोजन किया।”12 इस प्रकार राजा दुपद ने13 तथा राजा जवलनवर्ती ने14 अपनी-अपनी पुत्री के विवाह सम्बन्ध में मन्नियों से सलाह की। मन्नी राजा अनेक युक्तियों से राजा की रक्षा भी करते थे। जिसी विवाह का अंगोचिता नामक आदेश देने पर कि आज से सातवें दिन पोदनपुराणी अध्याय के तत्त्व पर ध्यान होगा, चित्तासुर राजा ने सभी मन्नियों से विवाह-विनाश किया तथा युक्तिनिपुण सब मन्नियों ने सलाह करके राजा के पुतले को सिद्धांत पर स्थापित करके राजा की रक्षा की थी।15

युद्ध-ोत्रेः में भी मन्नी राजा के साथ होते थे। जरासंध के सेनापति “हिरण्यनाम” के

1. मनुसमूति, २।१९४।
2. नीतिकार, ४।१२।
3. अर्थशास्त्र, ६।१।
4. अर्थशास्त्र, १।१।
5. जून्मिल्या, २।२।
6. मनुसमूति, २।१२।
7. यज्ञवल्क्य समूति, १।३।
8. रामायण अयोध्याकाण्ड, १९७५।
9. महाभारत समाप्ति, ५।२८।
1०. पाण्डव पुराण, ७।२।
११. पाण्डव पुराण, ३।२२-४०।
१२. पाण्डव पुराण, ६।५०-६।
१३. पाण्डव पुराण, ५।२।
१४. पाण्डव पुराण, ६।२।
युद्ध में मारे जाने पर मन्त्रियों की सलाह से जरासन्ध राजा, भेवक राजा की सेनापति नियुक्त करता है।

पुरोहित

राज्य की रक्षा के लिए पुरोहित को नियुक्त करना भी आवश्यक माना गया है। कौटिल्य के अनुसार पुरोहित को शास्त्र-प्रतिपादित विद्वानों से युद्ध, उत्तरसैनिक पदध्रोषिता, ज्योतिषशास्त्र, वाकुदशास्त्र तथा दंडोंशास्त्र में अवगत नियुक्त करना अनिवार्य था। अन्यथा जनसमूहों के प्रति सब राजा के लिए अपनी जान की हार चाहिए।  

याजवल्क्यसूत्र के अनुसार पुरोहित को ज्योतिषशास्त्र का प्रभाव आता, सब शास्त्रों में युद्ध, अर्थशास्त्र में कुशल तथा शास्त्री कर्म में नियुक्त होना चाहिए। मनु के अनुसार भी पुरोहित को गृह कर्म तथा शास्त्री कर्म में नियुक्त होना चाहिए।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि राज्य में धर्म-प्रतिपादित पुरोहित था। इस पद का महत्व वैदिक युग से ही रहा है। पुरोहित का अर्थ है—आयु यथापि (पुर एवं दण्ड अर्थि)।

पाण्डव पुराण में पुरोहित को 'पुरोहित' कहा गया है। इसी का पुरोहित धार्मिक सत्ताओं के लिए नियुक्त होते थे लेकिन जब राजा दुरुपाधिकार के युद्ध में एक ऐसे पुरोहित का उल्लेख भी आया है। जो धन के लाभ तथा आकार पाण्डवों के निवास लाभाधि की जल्दी के लिए तंग हो जाता है। राजा दुरुपाधिकार का वर्मादेश करने वाले पुरोहित के रूप में राजा विराट के युद्ध में एक वर्ष तक (गुप्त रूप से) रहने का वर्णन भी आया है।

सेनापति

राज्य के सत्ताओं में सेनापति का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। सेना की सफलता योग्य सेनापति के अभिंन होती है। युद्ध मूर्ति में बहुत समय में सेना का स्थान नहीं रखता है। अर्थशास्त्र के अनुसार सेनापति को सेना के बाहर अलौकिक तथा प्रतिकृत कार्यों को जानना चाहिए। प्रत्येक प्रकार के युद्ध में सभी प्रकार के सत्ता-शास्त्र के सभाओं का प्रभाव भी उसे होना चाहिए। हाथी-दोंडों पर चढ़ने और रथ सशस्त्र करने में अवगत प्रतिभा होना चाहिए। पुरुषुका सेना के प्रतिकृत कार्य का उसे परिश्रम होना चाहिए। युद्ध में उसका कार्य अपनी सेना पर युद्ध स्थिति रखने के साथ ही साथ शास्त्र की सेना को नियंत्रित करना है। महाभारत में सेनापति में अनेक गुणों का होना आवश्यक।
पाण्डव पुराण में राजनीतिक स्थिति

माना गया है। शुक्रनीति में भी सेनापति के आवश्यक गुणों का वर्णन किया गया है। पाण्डव पुराण में सेनापति के मस्तक पर पट्ट बाँधने का उल्लेख आया है। चक्रवर्तिः जरासंध के द्वारा महुराजा रे मस्तक पर चमंडु बाँधने, दुर्योधन द्वारा अधिकार के मस्तक पर सेनापति पट्ट बाँधने तथा किसी समय भरत चक्रवर्तिः द्वारा जयकुमार के मस्तक पर बीरपट्ट बाँधने4 सेनापति पद दिये जाने का वर्णन मिलता है। इसलिए स्पष्ट है कि सेनापति के पद पर अन्यथा वीर, साहसी, गुणी एवं योग्य व्यक्ति नियुक्त किया जाता था।

गुस्चार

दूत राज्य का अभिव अज्ज है। प्राचीन समय से ही राजनीति में उसने महर्षपूर्ण भूमिका निभाई है। महाभारत9, मनुसृति10 तथा हितोपदेश11 में दूतों के गुणों का विवरण वर्णन है। कौटिल्य ने दूत को राजा का गुण सलाहकार माना है। दूत प्रकाश में कार्य करता है जबकि गुस्चार छिप कर। दूत राज्य का अर्थ है—सर्वेशावाहक, जिससे स्पष्ट है कि विभिन्न कार्य के सम्पादनार्थ ही दूत भेजे जाते थे। पाण्डव पुराण में दूत व्यवस्था का उल्लेख अधिक मिलता है। राजा अन्धकारवृद्धि द्वारा पाण्डु व कुश्ती के विवाहार्थ व्याप्त राजा के पास दूत भेजने, दूत राजा का द्रोपदी स्वयंबर के लिये निमंत्रण पत्रिकायें देकर दूतों को भेजने12 चक्रवर्तिः के यादों के पास दूत भेजने13 केशव का कर्ण के पास दूत भेजने13 आदि अनेक उदाहरण पाण्डव पुराण में मिलते हैं।

गुस्चार

गुस्चार राजा की आँखें हैं, इन्हों के द्वारा बड़ा राज्य की गतिविधियों को देखता रहता है। प्राचीन समय से ही गुस्चारों का महर्षपूर्ण स्थान है। कौटिल्य ने कार्यक्रम से गुस्चारों के नी विवाला किये हैं—कार्यक्रम, उदासीनता, गुप्तितक, कैदीपट्ट, तापस, स्त्री, लीला, रसद एवं सिद्ध13। मनुसृति14 याज्ञवल्क्यसृति15, एवं महाभारत16 में भी इनका महत्व प्रतिपादित है।

1. महाभारत उदासी 1519-25।
2. शुक्रनीति, 2422।
3. पाण्डव पुराण, 2030।
4. पाण्डव पुराण, 2030।
5. पाण्डव पुराण, 3519।
6. महाभारत, उदासीन, 3741।
7. मनुसृति, 3513-64।
8. हितोपदेश विग्रह, 19।
9. पाण्डव पुराण, 819।
10. पाण्डव पुराण, 1519।
11. पाण्डव पुराण, 1519।
12. पाण्डव पुराण, 1519।
13. अभ्यांत्र, 110।
14. मनुसृति, 3516।
15. याज्ञवल्क्यसृति, 1327।
16. महाभारत 6136-713।
दुर्ग, प्राकार एवं परिखा

श्रुतिओं के आक्रमण से नगर एवं राजा की रक्षा के लिये प्राकार एवं दुर्ग का निर्माण किया जाता था। नगर की सुरक्षा की दृष्टि से उसके चारों ओर एक कोनी सुरक्षा कोनी बनायी जाती थी जिसे प्राकार कहा जाता था। पाण्डव पुराण में अल्पस्थिक ही प्राकार बनाने का उल्लेख आया है। हृस्तिनापुर नगर के प्राकार के शिखरों पर ताराओं का समुह बना हुआ मोटियों के समान सुलग्न हो रहा था। इस वर्णन से ही इस प्राकार की ऊँचाई का अनुमान लगाया जा सकता है। नगर की सुरक्षा के लिये उसके चारों ओर परिखा या खाई बनाई जाती थी। हृस्तिनापुर नगर की खाई के समय पर चम्पापुरी नगर की खाई की तुलना पाताल की गहराई से की गयी है। श्रुति के आक्रमण के समय नगर-द्वार को बनने का वर्णन भी आया है। पाण्डव पुराण में दुर्ग का उल्लेख कहीं नहीं आया है। पतझलि के अनुसार दुर्ग बनाने के लिये ऐसी भूमि ही जाती थी, जिसमें परिखा बन सकेद। क्योंकि पाण्डव पुराण में परिखा का वर्णन मिलता है इससे स्पष्ट है कि दुर्ग भी अवश्य होते होंगे। उनका वर्णन नहीं किया गया है।

किसी भी राज्य का आधार कोष एवं सेना माने गये है। राजा की शक्ति सैन्य बल पर ही प्रभावशाली बन पाती है। प्राचीन काल से ही राजवास-प्रजाताओं ने बल का महत्व स्वीकार किया है। अविकल्य के अनुसार राजा को दो प्रकार के कोषों से भय रहता है पहला—आत्मिक कोष, जो अमालों के कोष से उत्पन्न होता है, दूसरा बाह्य कोष, जो राजाओं के आक्रमण का है। इन दोनों कोषों से रक्षा सैन्य बल से ही हो सकती है। पाण्डव पुराण में चतुरज्ञी सेना (बल) का उल्लेख अनेक स्थानों पर है। चतुरज्ञी बल के अन्तर्गत हृस्तिन-सेना, अश्व-सेना, रथ-सेना तथा पादरति सेना आती है। राजा श्रेष्ठ महाबीर प्रभु के दर्शांत बैभा पर्वत पर चतुरज्ञ सेना के साथ पहुँचते हैं। इसी प्रकार राजा पाण्डव बन कोडा के लिये चतुरज्ञ सेना के साथ बन के लिये प्रस्थान करते हैं। युद्ध क्षेत्र में तो श्रुति राजाओं से युद्ध करते समय चतुरियों सेना का

1. पाण्डव पुराण, १७१२६।
2. पाण्डव पुराण, २११८५।
3. पाण्डव पुराण, २११८६।
4. पाण्डव पुराण, ७१२७०।
5. पाण्डव पुराण, २११६१।
6. पतझलि कालेश्वर भारत, पृ० ३२६।
7. पाण्डव पुराण, १११५।
8. पाण्डव पुराण, ११२-६।
पाण्डव पुराण में राजनैतिक स्थिति

प्रयोग होता था लेकिन सुलिंधन के स्वयंबर में जयसुम्बार के वरण करने पर अर्थशास्त्री कुमार तथा जयसुम्बार के बीच हुए युद्ध में चतुरज नेना का उल्लेख आया है। इसी प्रकार द्रौपदी स्वयंबर के समय पाण्डव-कारकों के बीच हुए युद्ध में चतुरज नेना का वरण आया है। इसी स्पष्ट है कि राजा लोग हर समय युद्ध के लिए तैयार रहते थे तथा सेना हमेशा सुसंवर्धित एवं तत्वपर रहती थी।

इन चतुरज नेना के अतिरिक्त पाण्डव पुराण में विद्याधर नेना तथा अशोकहिंडी नेना का उल्लेख भी आया है।

युद्ध-प्रणाली

पाण्डव पुराण में प्राचीन युद्ध सम्बन्धी वरण आचार्य का काल भर रही धर्मयुद्ध की परमाणु की है। पाण्डव पुराण के युद्ध वरण में स्पष्ट है कि प्राक: रात्रि में युद्ध रोक दिया जाता था। लेकिन बीसवीं पर्व में एक स्थान पर कहा गया है कि योद्धागण रात्रि में और दिन में हमेशा लड़ते रहते थे और जब उन्हें निद्रा आती थी तब वे रणभूमि में ही चढ़-चढ़ कर लड़ते थे और सो जाते थे। फिर उठकर लड़ते थे और मरते थे। युद्ध के समय उत्कट-अनुग्रह, मान-मर्यादा का पूरा ध्यान रखा जाता था। युद्ध भूमि में द्रोणाचार्य के उपरिमात्र होने पर अरुण विश्व का गुरू के साथ युद्ध करना अनुभवित बताते हैं। तथा मर्यादा का पालन करते हुये, गुरू के कहते हैं कि युद्ध से पहला बाण छोड़ने को कहते हैं। दक्षिणापथ भीष्माचार्य के युद्ध भूमि में पृथ्वी पर गिर पड़ने पर दोनों भूमियों के सभी राजा रण छोड़कर आचार्य के पास आ जाते है। इससे स्पष्ट है कि बड़ों का मान-सम्मान युद्ध भूमि में भी किया जाता था।

पाण्डव पुराण के युद्ध वरणों में प्रायोग: अनेक प्रकार के विद्यार्थी असीम-शास्त्र प्रयोग करने का उल्लेख आया है—उदाहरण: शासन देखता है। प्राचीन गार्मण, जलजवल, स्थान बाण तथा नम्र बाण। विद्यार्थी के बाहर से भी युद्ध किया जाता था। इस सन्दर्भ में भारतीय विद्वान बुधवारी, स्त्रिया, क़ौट्री, शूला, मोहिनी, भारत स्वरूप आदि का उल्लेख युद्ध वरणों में पाया जाता है।

1. पाण्डव पुराण, ३१८१-३१८४।
2. पाण्डव पुराण, १९११-१९१३।
3. पाण्डव पुराण, ३१०४।
4. पाण्डव पुराण, १९१२-१९१४।
5. पाण्डव पुराण, १९१७-१९१८।
6. पाण्डव पुराण, १९१६।
7. पाण्डव पुराण, २०१२।
8. पाण्डव पुराण, २०१२।
9. पाण्डव पुराण, २०१२।
10. पाण्डव पुराण, २०१२।
11. पाण्डव पुराण, २०१२।
12. पाण्डव पुराण, २०१२।
1३. पाण्डव पुराण, २०१२।
1४.
पाण्डव पुराण में युद्ध वर्णनों का बहुत ही। कवि का युद्ध वर्णन का कौशल अद्वितीय है। युद्ध वर्णनों के पटन अथवा श्रवण मात्र से ही युद्ध की भीषणता का उपस्थित हो जाता है। उदाहरणार्थ— अर्जुन के द्वारा गिराये गये भगव रथों से मारे रूक गया तथा जिनकी सुन्दरता दूर कर गये है और जो दुःख से चित्तवाद रहे हैं, ऐसे ही शरीर पर पाने व्याप्त हुआ। रण्यमूर्ति में मस्तक शहित शारीर नूतन नई करने लगे तथा उनके मस्तको मारा भूमि लाल हो गयी। अगाम समुद्र तारी लेने के लिये असमर्थ मनुष्य जैसे उसमें कठी भी स्थिर नहीं होते वैसे ही पियाजे के रूप के प्रवाह में तैरने वाले मानव कठी भी नहीं ठहर सके।

युद्ध के प्रारम्भ में रण सूचक वाय बजाये जाते थे इनमें रणमेरी, पाण्डव शंकर, देवदत्त शंकर, दुनुंदित, आदि का उल्लेख आया है। सैन्य में हुए वाक्य पर अपाकुन पर भी विचार करने का उल्लेख पाण्डव पुराण में आया है। मन्रयपति वर्णण के सैन्य में अनेकों दुनियाँ दुनियाँ जो कि जय के अभाव को सूचित करते थे तब दुनियाँ ने अपने कुशलमन्त्री को बुलाकर इन सब दुनियाँ के बारे विचार किया था।

न्याय तथा दण्ड व्यवस्था

न्याय तथा दण्ड व्यवस्था के बारे में पाण्डव पुराण में विशेष उल्लेख नहीं आया है एक स्थान पर केवल इतना कहा गया है कि श्रीवर्मा राजा ने अपने चार ब्राह्मण मन्त्रियों को, जो कि अक्षमनाचार्य के संघ को तथा श्रद्धासागर मुनि को मारने के लिये उन्नत हुए थे, गधे पर बेचा कर तथा उनके मस्तकों को मुड़काकर दण्ड स्वरूप उन्हें नगर से बाहर निकाल दिया था। इसके अर्थित कठी पर भी न्याय व दण्ड विधान का कोई भी उल्लेख नहीं आया है।

—द्वारा बलराम सिंह विष्णोई

२१, पटेलनगर, मुण्डकरनगर

२५१००१ ( उ. प्र. १०२२ )

---

1. पाण्डव पुराण, २०११-१२।
2. पाण्डव पुराण, २०१२-१३।
3. पाण्डव पुराण, २०१३-१४।
4. पाण्डव पुराण, २०१४।
5. पाण्डव पुराण, २०१५।
6. पाण्डव पुराण, २०१६-१७।
7. पाण्डव पुराण, २०१८-१९।
जैन निर्वाण : परम्परा और परिवृत

ईश्वर व्यालं

प्रासादिक

भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-परम्पराओं में विशेष का एक महत्वपूर्ण बिन्दु है—निर्वाण। पाश्चात्य धार्मिक-दार्शनिक परम्परा स्वर्ग पर आकर श्रद्धा और जाति है। वहाँ से युद्धत्तयों का एक जीवन कहते हैं, ईसाइयों का पराक्राम या घटकों और मुस्लिम परम्पराओं का मध्य और द्रुढ़ हो भरा प्रवेश। भारतीय दर्शन यह मानता है कि दुःख से एक जीवनकाल मुक्ति और सुख की एक जीवनकाल मात्र कल्पना है। सुख के साथ दुःख का अपरिहार्य सम्बन्ध है। अगर दुःखों के पार जाना है, तो सुख के पार भी जाना होगा। सुख के पार जाना है तो कामनाओं के पार भी जाना होगा। निर्वाणता और वीतरागता ही मात्र हैं जो महात्मा के शब्दों में “पार गया” है—पार चले गये हैं, “तोरं गया” है—किनारे पहुँच चुके हैं, “आँख तरा” है—समुद्र को पार कर चुके हैं। बहु “पार” क्या है? बहु लक्ष्य क्या जिसे केंद्र बनाकर भारतीय दर्शन-परम्पराओं की सारी साधनाएं चल रही हैं?

निर्वाण

जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में निर्वाण या निबंधन शब्द अनेक है। अथवा आत्म-साधना के प्रस्तावित रूप में उस पर समझा भविष्यवाणी भी उपलब्ध है। उसी अर्थ में वैदिक परम्परा में भी “निर्वाण” का प्रयोग मिलता है। गीता में “ब्रह्मनिर्वाण” शब्द प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदों में भी बार-बार इस शब्द का प्रयोग आया है। इसका अर्थ आत्म-साधनात्मक तथा ब्रह्मलीलात्मक है।

भूतपूर्वत

अभिगमन महाविषय में “निर्वाण” शब्द की अनेक भूतपूर्वतियाँ प्रज्ञा हैं, यथा:

* वाण का अर्थ है “पुनर्जन्म का रास्ता”। “निर्वाण” अर्थात् “छोड़ना”। अर्थ निर्वाण का अर्थ हुआ “स्थायी रूप से पुनर्जन्म के रास्ते को छोड़ना”।

* “वाण” का अर्थ है “दुःख”। “निर्वाण” अर्थात सुख नहीं। इस सन्तोष में निर्वाण का अर्थ है “वह स्थिति जो दुःख देने वाले कर्मों की दुःख के साधन मूल है”।

* “वाण” का अर्थ है “घना जंगल”। निर्वाण इससे छुटकारा पाना। अर्थ: “निर्वाण” का अर्थ हुआ “एक ऐसी स्थिति किसी स्थानों, तीन प्रकार की अविस्त, स्थिति और विनाश” के घने जंगल से छुटकारा पाना होगा”।

१ भारतीय दर्शन में मोक्ष सिद्धन्त: डा। अशोक कुमार लाहौ, मध्यप्रदेश हिंदी प्रय्यंक अकादमी, पृष्ठ ६४।
“वाण” का अर्थ है “बुद्धि”। निर अर्थात् नहीं। अतः निर्वाण सभी प्रकार के दु:ख देने वाले कर्म रूपी धार्म से, जो जनम मरण का ताना-बाना बुनते हैं, पूर्णत: मुक्ति है।

कुछ मिलाकर बीचों को निर्वाण परिकल्पना एक नकारात्मक स्थिति की व्यजक है, विनाश मूलक है यदापि इसका अर्थ लक्षणिक ही प्रतीत होता है, अभिधात्मक नहीं। रास्ता देविक्ष के शब्दों में “निर्वाण पवित्रज्ञ मन की शान्त स्थिति है और उसे हम श्रेष्ठ रूप से दिया ज्योति, अन्त-रूख, सत्य और मुक्तिविधाय, पराजय, मुक्त, शान्ति, शोधनलता, सत्योषु, शून्य, शुरुआत, मुक्तमय, मुक्ति, मुक्ति और प्रज्ञा आदि शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं। सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णनु के अनुसार बुध का बादशाह केवल मिथ्या इन्द्र का विनाश करना था, जीवन मात्र का विनाश करना नहीं। काम-वासना, घृणा एवं अखाने के नाश का नाम ही निर्वाण है।

निर्वाण : जैन ध्याना

जैन परम्परा में निर्वाण की विनाश मूलक व्याख्या भी मिलती है। भगवतीआराधना में निर्वाण का अर्थ है विनाश—जैसे दीपक का बुझ जाता। लेकिन लक्षणिक संदर्भ में ही यह बात लागू होती है। अर्थात् कर्मों का सम् पूर्ण विनाश। “निर्वाण विनाश: तथा प्रावी: प्रथीयो: नस्त्र इति वाक्य विनाशसामान्यस्य वर्तमानोऽधिकृत निर्वाणशब्द: चरणशब्दस्य निर्वाणकर्मशास्त्रः।” अभिधात्म-चिन्तामणिकोष में भी निर्वाण का इसी प्रकार अर्थ दिया गया है—“निर्वाणस्तु गतेवाते निर्वाण: पावकादिपः।” अपरकोष में भी इसकी व्याख्या बुध जाने के अर्थ में ही मिलती है। वौहों के ही समातान्तर जैन-परम्परा ने इसका अर्थ कर्म-वाणों से मुक्त होने के रूप में भी की है।

जैन परम्परा के अनुसार भी निर्वाण कर्मों का, उनसे सम्भूत दुःखों का, जन्म-जन्मात्मा की परम्परा का ही उच्च-अवसर है, जीव-सत्ता का नहीं। निर्वाण के “अभिधात्म-चिन्तामणि” में प्रस्तुत पवित्रवाची शब्द इसी सत्य के संसचन हैं:

महादेवोडोमूर्ति विधिव वेगलसमुपभोवः ।
विनं निःश्रेयसं वैयो निर्वाणम् ब्रह्म निर्वृत्तिः। ॥
महोदय सर्वीःक्षयो निर्वाणमक्षरसचः ।
मुक्ति मोक्षोपवर्जयः।।॥

1. Systems of Buddhistic Thoughts : Soge — Page 34-42।
2. A History of Indian Philosophy : J. N. Sinha Vol. II P. 330।
3. भारतीय दर्शन : डा। राधाकृष्णन, भाग—२, पृ० ४११-१२।
4. भगवतीआराधना ११५३१२।
5. अ० च० ६।१४८४।
6. भारतीय दर्शनों में मोक्ष चिन्तान्त : डा। अवोक कुमार लाह, पृ० ६४।
7. तीर्थयात्रा गद्दीं महावीर : पद्मचन्द शास्त्री, पृ० १०४।
8. अभिधात्म-चिन्तामणि, काण्ड—१, टोक—३४-३५।
मोक्ष और निर्जनः: जैन परम्परा के सन्दर्भ में

जैन दर्शन के नव तत्त्वों में मोक्ष शब्द का ही गहरा अर्थ मिलता है। समयसार के अनुसार इनका क्रम इस प्रकार है: जीवाजीवा य पुण्यावाच य आस्व संवर निजन्द्र बन्धो मोक्षोः। आचार्य कुमारचन्द्र ने पप-पुण्य को छोड़कर सात तत्त्वों की गणना इस प्रकार की है:

जीवाजीवावाचतः संवरो निजरा तथा।
मोक्षस्य तात्त्विक सत्तेव तत्त्वान्युच्चमनोधिष्ठः।। २ ।।

तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष का अर्थ है, “बन्ध के हेतुभूत कर्मों की निर्जना होने पर उनका हेतु रूप में अभाव” अर्थात् उनसे मुक्ति—बन्धहेतुमवाचनराम्या कृत्त रूप में प्रत्येकप्रमोक्षो मोक्षः।। आचार्य पूज्वादान सर्वरूपिते में कर्मों के निराकृत होने पर उनके कल्प में निर्मल आत्मा की ज्ञानादि गुण तथा अव्याप्तता की अवस्था का मोक्ष कहा है—निररिविकेशनराविदक्रमिलकलकलकस्याहीरस्वायत्नोऽविश्वस्यात्माकामानातिदिनमयमात्यत्वितकममवस्थान्तः।। न्यायवाचिक में भी मोक्ष को आत्मनिर्देशक दुःख भाव कहा है अर्थात्, दुःखों से सुलभ मुक्ति। तर्कदीपिका में भी इसे “परम दुःखकः” अर्थात् दुःख का अतिरिक्त रूप में भावना कहा गया है।। न्यायसूत्र में “आत्मनिर्देशक दुःखनिरूपिति” अर्थात् मुलुक दुःख से निरूपित वाचन कहा गया है।

निर्जन और मोक्ष शब्द परस्पर पर्यायवाची सन्दर्भों में प्रयुक्त किये गये हैं। निर्जनवादी जैन परम्परा के सात या नौ तत्त्वों में निर्जन का न होना तथा उसके स्थान पर मोक्ष का होना यही सूचित करता है।

नव तत्त्व और आस्व

उत्तराध्ययनसूत्र में नौ तत्त्वों की विवेचना मिलती है:

जीवाजीवा य बन्धो य पुण्यं पावास्वो तद्।
संवरो निजरा मोक्षोऽस्ते ए तत्त्वोऽन्वरः।। ३ ।।

आस्व को ही हो परिमाणियां पप और पुण्य है, अतः कुल मिलाकर सात ही तत्त्व बनते हैं। इसी कारण आचार्य शुभचन्द्र ने सात ही तत्त्व प्रतिपादित किये हैं। इनमें भी बन्ध, मोक्ष, संवर, निजरा, आस्व बादी जीव और अजीव की ही स्थिरतियाँ मात्र हैं। अतः कुल मिलाकर तत्त्व दो ही ठहरते हैं—परम और धर्म बादी जीव और अजीव। शस्वप्रकाशक के अनुसार:

१. समयसार, पृ० १४-१५ गाथ १५।
२. तत्त्वार्थसूत्र, १०१२।
३. तीर्थकर वर्धमान महात्मा: पपचन्द्र शास्त्री, पृ० ८०।
४. भारतीय दर्शनों में मोक्ष बिल्लन: डा० अशोक कुमार लाहौ, पृ० १६७।
५. नवी पृ० १६७।
६. न्यायसूत्र ११०२ ( वात्स्यायन माध्यम )।
७. उत्तराध्ययनसूत्र २८१४।
जीवजीव वह धर्मी तद्वर्त्तित शुभाद्य इवत ।
धर्मीमत्तिक तत्र तः सतिसतिमुक्तः ॥

आचार्य सिद्धांत विवाक्षा न सन्तपित्तकः मतः प्रत्यक्षात् कारित ततः ।

नव तवेत्वेष्वरपि येकळ्टव न मुनुवरते ॥

सन्तिश्च दृष्टि से देखने पर ते एकमात्र आत्म ज्योति ही जगमगाती है, जो इतना नव तत्त्वों में
धर्मीमुणे अनुगत होते हुए भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ते।

जीव ज्ञान: सूचित

जीन दृष्टि छ: इव्यों की सत्ता प्रहृतिकरता है—जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और
काल ॥ जीव ज्ञान-दृष्टि से एक है, परमात्मा की दृष्टि से अनेक है। यह ज्ञानों व्यवस्थानक है अर्थात्
ज्ञान-वर्तनमय । तीनों कालों में ज्ञान-दृष्टि के सतत परिवर्तन होने की दृष्टि से यह अनेक है। कभी
न्यात्मिक नहीं होने वाले प्रदेशों की दृष्टि से यह अक्षय है, अख्य एवं अवस्थित है । भगवतीसूत्र में
भगवान् ने इतनी सब अपेक्षाओं से अपनी की एक, दो, अनेक, अख्य और अवस्थित बताया है।

"सोमिला देवदर्शायामे एते अहं नाना दर्शायामे दुष्टिंहे अहं पउसुद्धारे बहण्ये वि अहं
अवस्थाद्वै वि अहं अवस्थाद्वै वि अहं उद्भोग्याद्वै अणेगु महाभाव भविषा वि अहं।" ।

जीव अनंत है।

गुणात्मक दृष्टि से सब समान हैं। अनुभव, इच्छा-शक्ति और भाव उसके गुण हैं। वह ज्ञान, कर्म
और भोक्ता है। मूलतः जीव वशरीरी है। अर्थात्, अवध, अख्य एवं अब्रम है। भगवतीसूत्र में
गण्याने ने कहा है—"गोमया अहं एस जापित जाव जं तथायस्त जि० अहं आविष्कार्स्त
अक्षयस्त अवेदनस्त अलेस्त असरीलस्त ताओ सरीरो विम्मुक्तस्त तौ एस पाशायित तं जहा
कालसे वा जाव वृस्ते वा।" ॥

बन्ध मोक्ष की प्रक्रिया

बन्ध अनावरणकाल से है। जीव शास्त्रित रूप से बन्ध और मुक्त दोनों स्थितियों में अवनत
संबंधात्मक है। बन्ध कार्य का होता है। कार्य पाप और पुष्प दो प्रकार के होते हैं। बन्ध का कारण
आकाश है जो मन-वचन-काय की किया है, जो भावात्मक और व्यवस्थात्मक दोनों प्रकार की होती है।
संवर है आकाश का एक जाना, निर्णय है तय द्वारा कृत कार्य का क्षय तथा मोक्ष है इसकी निर्देशि।
बन्ध से मोक्ष तक आत्मा की एक निर्देश दी है, जिसका पर्यावरण मोक्ष में होता है—मोक्ष
परंपरित है और निर्वाण है स्थिति। एक पत्ती से यहाँ भेद रेखा यहाँ दृष्टिगोचर होता है—मोक्ष
और निर्वाण में।

1. श्लोकनालिक २११४।
2. सन्तपित्तक, ०१४६।
3. समयसार कलम० ०७।
4. आचार्य सुभाचंद्र, दृष्टांत तीर्थंकर वरदमान महावीर : प्रसंजन शास्त्री पृ० ८२।
5. भगवतीसूत्र ०११००।
6. उपरितृ १७५२।
निर्णायक आत्मा को हिज्यत

कैल्याच्या मोक्षात वायुरा वीर्य होता हैं। चार घातीय कर्म्यां का यहाँ विनाश हो जाता हैं। शेष चार कर्म्यां की निर्जर्ण होते पर द्रव्य-मोक्ष होता हैं। द्रव्य-मोक्ष की स्थिति के बारे में जैन-धर्म की विभिन्न परम्पराओं में प्रमुखता निम्नलिखित बातें मिलती हैं:

* पूर्वगृह द्रव्य के निकल जाने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रह जाती है।
* इससे खाली प्रदेशों को आत्म द्रव्य से भरने के बाद उसका आकार शरीर का दो तिहाई रह जाता है।
* यह ऊपर उठती है और लोकार्पण पर जाकर सिद्धशीला पर टिक जाती है।
* उससे अलोकाकाश में गति नहीं होती कियोंकि वहीं धर्म-द्रव्य की तत्ता नहीं होती।
* सिद्धों में परस्पर अवगाहन होती है—एक सिद्ध होता है वहां एक-दूसरे में प्रवेश पाकर अनन्त सिद्धालाभः स्थित हो जाता है।

जय एवं गण सिद्धों स्वरूप अरण्त विनायक विजयत्।

अन्तर्जात्माः पुष्कर सबे वि लोगते॥

* जैसे द्रव्य बीजों से फिर अंकुर पैदा नहीं होते वैसे ही मुक्त जीव फिर जन्म-धारण नहीं करते।

जहा दृढिक्षण बीवराण न जायति गुण अंकुरः।

कम्म बीवर्युः दृढङ्गुः न जायति भवाकुरः॥

* सिद्धालाभः अदितिही सुखम् होते ही। चक्रवर्ती, सोमभूमि या मनुष्य धर्मेऽति, देवेऽति व अहंकारः—इन सब का सुख पूर्व-पूर्व की अपेक्षा अनन्त-अनन्त गुणा माना गया है। इन सब के शिकारवर्ती सुख की बी यद्य एकजित कर दिया जाये, तो भी सिद्धों का एक क्षण का सुख उन सबसे अनन्त गुणा है।

चक्रिक तुष्य फणिं सुरिद्वै णहनंदे जं सुहं तिकालम्बः।

ततो अरण्त गुणिद्विं सिद्धाण्ं खणामुहं होदिः॥

कर्मः भाव ही नहीं, द्रव्य भी।

जैन परमपरा के अनुसार कर्म मात्र मनोगत भाव नहीं होते, द्रव्य होते हैं और आकार द्वारा जीव के प्रदेशों में व्याप्त होकर उसे वस्तुतः स्थित करते हैं। बा० नथमग टाटिया के अनुसार: “कर्म केवल आत्मनिष्ठ ही नहीं हैं, जैसा कि बीमार दार्शनिक सोचते हैं, वे वस्तुनिष्ठ भी हैं। कर्म का यह सम्प्रदायन कि वह केवल भाव ही नहीं बल्कि द्रव्य भी है, जैन दार्शनिकों को अपनी विश्वस्तता है“।

1. विशेषव्यक्तमभाष्य, ३१७६।
2. वस्तुतस्तत्त्वसम्प्रदाय (भाष्यार्थ अभाष्य), ५२१५।
3. विशेषव्यक्तम (आचार्य नमीचन्द्र), ५६०।
विगम्बर परम्परा

विगम्बर परम्परा के अनुसार स्त्री को मोक्ष नहीं मिलती क्योंकि शाररण होने के कारण वह अचेत नहीं हो सकती। तथा सचेत चाहे तथ्यकर भी क्यों न हो उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। ये दोनों ही बातें आचार्य कुन्दकुंद्र ने कही है लेकिन जहाँ प्रथम प्रक्षेप होने के कारण उत्तमी गंभीरता से नहीं हिज्या जा सकता वही दुःसन्ति निरांक भाग है कि उसकी उपेता भी नहीं की जा सकती। तथायाँ आचार्य कुन्दकुंद्र ने ही समस्यार ने निष्कर्ष नये से जहाँ अपने विचार रखे हैं, वहाँ वस्तर नहीं हैं, सम्पुर्णेक उपधरणों और भोजों के सेवन तक को ध्रुव के स्तर पर निरानक भावना नहीं है। उन्होंने कहा है जैसे अरतिमार्ग भवानी करता हुआ भी कोई नामों में नहीं होता ताकि अरति भाव से ध्रुवों के भोज से भी जानी बदल नहीं होता। जैसे गाथुड़ी विष्णु के ज्ञाता पुरुष विष्णु की खाते हुए भी मरण को प्राप्त नहीं होते ताकि ही ज्ञानी ध्रुव-कर्मों को भोगते हुए भी उनसे बदल नहीं होते। कोई सेवन करते हुए भी नहीं करता है और कोई सेवन नहीं करते हुए भी करता है।

यही मूमक कि इस संदर्भ में श्वेतस्वर आगमों की है कि भाव से वस्तुनिष्ठ उपधरणों द्वारा लिस नहीं होने के कारण ध्रुव के स्तर पर इन्हीं सेवन बन्ध का हेतु नहीं रह सकता—संयम-साधना व लज्जा की रक्षा के लिए ही इनका उपयोग होता है।

जं पि वल्य व पायर वा केबल पायपुच्छ्र।
तं पि जस्मवल्यकं धारति परिहरति या। दशवैक्षकिक ६.२०
उल्लास्यायस्य संन्यास के अनुसार, जो भगवान् ने निर्माण के पूर्व प्रज्ञा किया, सिद्ध श्रीभी हो सकती है, पुरुष भी, नामसत् भी, जिन मार्गनिया भी, अजीक्र आदि अन्य मार्गनिया भी, गृहस्य भी।

इत्यादि पुनिषस सिंहा त तहत्र य पावुस्याग।
सलिंगे अशृंगेये य गिमिश्चिन्ये तहेव य।। उल्लास्यायस्य ३६.२४८
आत्मा का अपनी मूल स्थिति को प्राप्त होना निर्माण है और उसमें वह न रही है, न पुरुष, न अन्य कुछ—यह इत्यादि, पण पुरिसे, पण अर्नह।। यही अवधारणा भगवान् महाभारत की भावना तथा व्यापक दृष्टि के अनुसार भी है।

१. प्रवचनसार २२५ की प्रक्षेप गाथा ७।
२. सूक्षमावृतम्—३२।
३. जहा महजं मित्रानियो अरदिम्याणे महजं पुरिसो।
ङ्ग व भोजों अर्देह पाणि व वश्वाय तहेव।। समस्यार—२०५।
४. जहा विस्मृतमुद्यूनुपि विज्ञा पुरिसं मरणमुद्यूनुप्तिः
पौषितक धम्म सुदर्शन सेव पुण्यजीवित पाणि।। समस्यार—२०४।
५. सेवते वि न सेवते अव्याप्तानि वि सेवते किदं।
पसरण चौक्षते कृपसिवं पायर गोतित सो होदि।। समस्यार—२०६।
६. आचार्यां—५५१३४ (आचार्य तुलसी की बाचना)।
आत्मा की माप-जोख

परम्परागत जैन मान्यता यह है कि निर्वाण के समय आत्मा पूर्व शारीर के ही दो तिहाई आकार में होती है। क्योंकि कर्म-परमाणुओं के निकल जाने पर खाली हुए प्रदेशों को भर कर आत्म-परमाणु घनीभूत हो जाते हैं। इसका कारण परम्परा यह मानती है कि शीतेरी अवस्था के साथ ही सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं और कर्म के अभाव में आत्मा की कोई गति संभव नहीं। लेकिन यह मान्यता निम्न दृष्टियों से देखने पर कुछ प्रश्नों को जवाब देती है।

* जैन परम्परा मानती है कि आत्मा के प्रदेश का विस्तार सारे लोक तक हो सकता है। केवल समुदाय के समय सारे लोक में आत्म-प्रदेश फैल कर व्याप्त हो जाते हैं। दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि निर्वाण के पूर्व केवल समुदाय होता है। फिर आत्मा के सारे प्रदेश पुनः संकुचित होकर शारीर का दो सत्ताओं के स्थिति कर लेते हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि आत्मा स्वभाव से लोकव्यापी है।

* अगर कर्म होकर होने के कारण आत्मा अपना मूल लोकव्यापी विस्तार नहीं पा सकती तो कर्म के अभाव में वह संकोच की प्रक्रिया भी कैसे समशन कर सकती है?

* अगर कर्म-ब्रह्म के अभाव से शून्य प्रदेशों को भरते के लिए उसका संकुचित होना आवश्यक है तो कर्मवर्णों के क्षण होकर समाप्त हो जाते पर उसका फैल कर अपना असीम आयाम प्रह्लाद कर लेना भी आवश्यक होना चाहिए।

* यथा आत्मा का सच्चात्मक आयाम मानव-शारीर का दो तिहाई ही है अपनी मूल स्थिति में संकुचित और घनीभूत होते समय अगर मानव-शारीर का दो तिहाई ही उसकी संकोच सीमा है और उससे अधिक उसका संकोच संभव ही नहीं तो निगोपीया जीव, जिसकी अवगाहना सबसे कम होती है, में वह कैसे रह पाती है? अगर संकुचित होकर आत्मा अपनी मूल ब्रह्मायत्मक सत्ता ही पाना चाहे तो वह निगोपीया जीव से भी छोटी होनी चाहिए क्योंकि उसमें आत्मा तथा ब्रह्म-पुरुष दोनों होते हैं और वह मानवीय आत्मा के समान ही अपनी मूल सत्ता में होती है।

* अगर आत्मा के ही सारी गति होती है, तो कर्म-सुक्त की गति-शून्य अवस्था एक बहरीन्द्र बन्धन हो गई क्योंकि मरण-काल की स्थिति में ही उसे अनन्त काल तक सिद्धिलिङ्ग पर रहना होगा।

* अगर आत्मा में खाली प्रदेश ही ही नहीं सकते और अजीव-ब्रह्म के निकलते ही उसे उन्हें भर कर घनीभूत होना ही पड़ता है तो सिद्धों की आत्माओं की परस्पर अवगाहना कैसे संभव होती है?

* शारीर से मुक्त होने का अर्थ है रूप से मुक्त होना—आकार से मुक्त होना क्योंकि रूप की परिधि मात्र ही आकार है। अरूप निराकार होगा, निराकार निसंभूत होगा क्योंकि आकार सीमा ही है। और निसंभूत दो नहीं हो सकते क्योंकि ऐसी स्थिति में वे दोनों एक दूसरे की सीमा को संभव कर अपनी निसंभूत सत्ता ही समाप्त कर दालेंगे। अतः आत्मा की सत्ता पर अनेकात्मकता ठहर नहीं पाती।

११५
* गुण शरीर के साथ जुड़े हैं। शरीर मुक्त गुणातीत होगा और संस्कृति स्वयं एक गुण है अर्थात् उसके भी पार ही होगा। उसे अनन्त कहें या एक—संस्कृति की दृष्टि से इन सब अभिव्यक्तियों का कोई अर्थ नहीं रहे जाता।

* पारंपरिक अर्थात् है व्यक्तिक भिक्षुपुरुषों, जो शरीर और मन के पार अपनी कोई सत्ता नहीं रखती—शेष रहती है निर्गुणात्मक सत्ता जो असत्य है, अर्थात् असत्य भी है और असत्य है अर्थात् एक भी है।

यहीं है निर्भय की परम अन्तःसत्ता स्थिति जो वेदान्त परमपरमा का ब्रह्म है, सूक्ष्मियों का शून्य, ब्रह्म का लोकव्यायी धर्म धातुकाय, लाभोऽण का लाभो, कन्यादिवस की हार्मनी। आचारार्थव्युत्पत्ती जिसे हर्म जैकोबी ने महाबोधी की प्रामाण्य वाणी का खोत माना है, में भगवानु ने निर्भयस्थ आत्मा का जो जीव प्रस्तुत किया है उसमें सिद्धेश्वर, अवगाहना एवं आकारमय असत्य ज्ञानों, उद्धरणम आदि वातों का कोई सन्दर्भ नहीं है। वर्तमान सिद्धेश्वर आत्मा की परम शुद्ध एवं संवृत्त धार्मिकता की स्थिति तथा लोक की अवस्था के रूप में उसकी गोरिमा की प्रतीक है। उद्धरणम भावना के रूप में आत्मा के विकास, आत्मा-साधना की आरोहणमय स्थिति की प्रतीक है। इन्हें परन्तु परमपरमा ने अभिव्यक्ति अर्थ में लेकर एकदम अनर्थ की सुविधा कर लायी है। भगवानु ने निर्भय की स्थिति का जो जीव प्रस्तुत किया है वह परम प्रभुशादायी है।

सब्जे सरा पियाटद्वनित
तक्का जत्था अविक्षुत
मह तथ्य जहिया
बोए अप्येतउतानः ऊवातने

"सारे स्वर छौट बाले हैं वहाँ से तक्क की सत्वा नहीं रहती जहाँ ग्रहण हो ही नहीं कर पाती जिसे बूढ़ि बहु निराचार निसीम जाता तत्त्व।"

से य दीदे, य हस्ते
ण बटूटे ण तत्से ण चउर्से ण परिम्बड़े

"बह न बड़ा है न छोटा आकार में न गोल, न निर्माण, न चुराशन; न परिमंडल ( कोई माप नहीं जिसका, न कोई आकार ) ण किस्डे ण जोलादे लौलिये ण दस्तिदे ण मुक्तिकले ण सुरसियां, ण हुज्जिमां ण दुज्जिमां ण"

"बह न काला है न नीला, न लाल, न नारंभ, न सफेद न सुंगधित है, न दुस्मिष्ठ।"

ण तित्ते ण कढ़ुए ण कसाए णआंबले ण मूर्ते ण कब्ज़े ण मउए ण गहुए ण बुहुए ण सीए ण उन्ने ण गित्ते ण लुबले।
“वहू न लिक है न कटक न कसैला, न खट्टा, न मोठा न कठोर, न कोमल, न भारी, न हलका न हिनाथ न हृता”।

“कोई बारीर नहीं है जिसका”
“कभी जन्म नहीं होगा जिसका”
“स्वप्न नहीं कर सकता जिसको कोई”
“वहू न स्त्री है, न पुरुष, अन्य कुछ भी नहीं”
“वहू जाता है, जेतन है”
“कोई उपमा नहीं है उसकी”
“अरुपी सत्ता है”
“उस निवेश की कोई विशेषता नहीं कही जा सकती”

यह है निवर्ण की परम स्थिति जो गुणातीत है, शब्दातीत है, अदैत है। दैत रूप गुणात्मक होते हैं। बारीर के पार, मन के पार रूप-गुणों की सत्ता नहीं रहती। अतः दैत की सत्ता भी नहीं रहती। उसे शून्य कहें या सब, दोनों मात्र दो शब्द हैं। महाप्राण निराला ने लिखा है—“शून्य को ही सब कुछ कहें या कुछ भी नहीं, दोनों एक ही बीज है” (शून्य और शक्ति) लोक-अलोक की तारी सीमाएं उस जाता की परम सत्ता के समक्ष ब्रह्मचर्य हो जाता है। आचार्य कुट्टकुल्ले ने समयसार में कहा है:

आदा पाण पामाण पाण्य पाण्य प्रमाणारुपिङ्ग।
पाण्यों लोकालोक्यं तान्हा पाण्यं तु स्वभावं।

जाता जान प्रमाण है, जान जैस प्रमाण है, तथा जैस है लोकालोक प्रमाण। अतः सर्वगत है जान, सर्वगत है जाता-आत्मा अपनी शुद्ध-बुद्ध सत्ता में। महाबीर के शब्दों में आत्मा एक है—एमो आया। इस एक को जानता है वह सब को जानता है—जे एमो जानाद के सब के जानाद। यही वेदांत, बौद्ध, तात्त्विक, कन्या-सिंहस, ईसाई, जर्मनी—दर्शन का मन्तव्य है। बेद हैं लोक-अलोक के, जो देशाकाल व परम्परा-सापेक्ष होते हैं। लेकिन अर्थदेह है सत्य, एक है सत्य, भगवान है सत्य—सच्च सत्यात्मक।

सब्दोद्य भविष्यालय
पत्रादि—गंध सड़कार।
रोहतास, बिहार—८०२२१
प्रायः जीवन में प्रयोजन-सिद्धि के लिये बहुत सी काल्पनिक मात्राओं भी अपरिहार्य बन जाती हैं। नाम, रूप, स्थापना और प्रतीक ऐसी ही विभूतियाँ हैं। यथार्थ न होने पर भी हम असत् मान्यताओं और मूल्यों को अस्तित्वार्थ करना कठिन ही नहीं, बससब भी है। जानी, मूढ़, बसबु, साधु, शिक्षित और अशिक्षित—कोई भी हो, यदि वह समाज में रह कर सांसंग लेता है तो इन विभूतियों की अनुलंबनीय लक्षण-रेखा के उस पार नहीं जा सकता।

प्रदेशक द्रव्य का एक नाम अवश्य होता है। यह नाम न तो पतूनिश है और न वक्तूनिश। यदि वह वक्तू (नामी) में रहता तो वहाँ उसकी उपलब्धि अवश्य होती। उच्चारण के पूर्व और पश्चात, अविद्याम परियोजना के कारण उसे पतूनिश भी नहीं कह सकते हैं। ध्वनिनिष्ठ द्रव्य का ध्वनि से तादात्म-स्थापना ही नामकरण है। यह तादात्मा नितांत कल्पित है, क्योंकि नाम एक वर्णांक स्वनिष्ठ होने के कारण स्थुल द्रव्य से स्वप्नत: स्वतं होता है। नामी (द्रव्य) का दर्शन होता है और नाम का भ्रमण। अंधे मूड लेने पर नामी अवृद्धि हो जाता है, किनतु नाम तब भी सुनाई देता है।
ईसाई, जीव आदि सूक्ष्म द्रव्य ईश्वरवादी, नियम और अनुपात है, परस्तू उनके नाम ईश्वरग्राह्या, अनिल और प्रत्यक्षवाद हैं। नाम न तो नामी में संयुक्त है और न सम्बन्धत। अत: केवल नाम में जिन के, म और ल ध्वनियों का साधनात: सुनाई देता है, उनकी उपसूक्ष्म कविता: द्रव्य के किसी भी भाग में नहीं होती है। नाम और नामी में आचरण-अनिवर्ति द्रव्य नहीं है, अतः अविद्याम नाम हूँ बहुत होते हैं। आशा देवी का जीवन निराशाया में ही बोलता है, गिरिजापति अविनाशित ही धरति है, आलोक के घर में अंधेरा दिखाई देता है। बिद्यासमर के मृत्युका की चर्चा: चर-चर होती है और कुबेर सडकों पर भी: मंगाया फिरता है। नामी के रहते पर नाम का भी रहता अविराश्व नहीं है।
वर्गों और गाँधी भी अवस्था कोट, परंतु, सरस्वूप, तुः, गुल्म, विहंग, चीनी और बस्ति: पड़ते हैं, जिनका अभी तक नामकरण ही नहीं हुआ है। नामी (द्रव्य) के अभाव में नाम का भी अभाव हो जाना आवश्यक नहीं है। महात्मा गांधी वर्ष नहीं है किंतु उनका नाम कोई कभी भी ले सकता है। इस प्रकार नाम और नामी में न तो अन्य वै और न व्यतिरेक है। बालक बनाम ही उदाहरण होता है। एक बार नाम रख कर उसे पुराने वस्त्र के समान बदला भी जा सकता है। शाब्द शासन में प्रतिपादित नाम और नामी (अर्थ या द्रव्य) का ज्ञात-ज्ञानक रूप सम्बन्ध भी व्यवहार की दोष से मुक्त नहीं है। कामुक बाल संस्कृत में शाब्द और तमिल में छड़ी का ज्ञान है और वही एक अविश्वास मूल्य की दृष्टि में स्वकृत निर्धार्य है। हिंदी में फूली का अर्थ रोटी है और बौद्ध विश्वास भी हो सकता जाता है। हिंदी और संस्कृत में जो शाब्द बाल का वाचक है, महाकाव्य में दूसरा अर्थ देता है। अन्य स्थानों पर वही निर्धारित भी ही हो सकता है। अन्य शब्दों के बहुत से शब्द हिंदी में दूसरा अर्थ देते है। इस प्रकार एक ही आकृति वाले शब्दों की ज्ञातकता में आकाश और पाताल का अन्तर है। इतना ही नहीं, कभी-कभी
जनक के रहने पर भी जाप्त का प्रज्ञा नहीं होता है। भारतीय शाब्द ईरान और चीन में तब तक कोई अर्थ नहीं प्रकाशित कर सकते, जब तक उनका अर्थ से आरोपित और सांकेतिक सम्बन्ध न बताया जाये। एक ही भाषा-शैली में दस-पद्रह कीस की दुरी पर बहुत से शब्दों के अर्थ नहीं समझे जाते हैं। नाम और नामी के सम्बन्ध की अवधारि उस समय और स्पष्ट हो जाती है, जब हम किसी शब्द (नाम) का प्रयोग ऐसे द्रव्य (नाम) के लिये करते हैं, जिसके लिये उसे मान्यता नहीं मिली है। घर में जब किसी नौकर से कोई वड़ी भूल हो जाती है तब न तो उसके चार पैर निकल जाते हैं और न पीछे पूछ ही उम जाती है, फिर भी बाहर 'साध्य व्य दृष्टि चर' का दौर लूटे वाला महों-पद्माकर भी उसे गद्दर कहने में नहीं चूकता है। गांव का अभाव कोटे बच्चों को ‘क माने कोआ और अ माने आम' पढ़ता है। जरा उसे पूछते कि ये अर्थ उसने किस दशनकोश में देख हैं। रेखाखंड में रेखाओं, कोणों और निकृष्टो से नामों में विभाजित होता है, इसे जानना चाहिए तो घर की दीवारों के कोणों और किसी भी त्रिभुजाकार वस्तु को देख हैं। अब गांव पूर्ववर्तिक द्रोणो के प्रत्यक्ष देखता है। उस समय उसे शब्दों और द्रोणो के सांकेतिक सम्बन्ध अज्ञात रहते हैं। धीरे-धीरे वह रिश्तापर और समग्र के साहचर्य में रह कर तद्भवत द्रोणो का तद्भवत शब्दों (ध्वनियों) से कृत्रिम सम्बन्ध समझता है और वैसे ही शब्दों का उच्चारण करता सीखता है, तब कहीं जाकर वाक्यभाषा स्पष्ट होती है। यदि वह बालक समाज से पूर्वस्तर देखा जाए तो उम्मीद हो जायेगा। यदि शब्द और अर्थ में यथार्थ सम्बन्ध होता तो वैसे अनुप्रस्तुतियों मनुष्य के लिए दर्शन को भिन्न स्वभाविक होता है। अनुप्रस्तुति से निरीक्षित होती है और उसका नाम से भी नामस्वरूप होता है, अतः मानुषभाषा स्वभाविक ही लगती है, परंतु जब कोई विद्वान भाषा सौंदर्य पद्धति है तब पता चलता है कि वह कार्य फितना आयाम-साध्य है। अन्नप्रस्तुति में एक ही ताम्र के भिन्न भिन्न नाम है। यदि नाम की आकृति निश्चित होती और उसका नाम से भी भाषा सौंदर्य होता है, तो सभी दृश्यों और कालों में प्रत्यक्ष द्रोण का एक ही नाम रहता। परंतु एक ही द्रोण के अनेक दृश्यों और कालों में अनेक नाम पाये जाते हैं अतः सभी कल्पित हैं और सभी स्वभाव हैं। उद्यमियों ने ईश्वर को अवश्य दिया वे, परंतु उस अवश्यक एवर्परात्म शक्ति के भी अवश्य नाम गढ़ लिये गये हैं। कोई अवश्य दिया वे, कोई बालक और कोई ईश्वर। ये दृश्यों नाम हो संसार के नामों धार्मिक रचनाओं में प्राप्त पुलिप्तना के मुख्यार्थ हैं। यदि हम यथार्थ के नामों में आकर सभी अवश्य धार्मिक मान्यताओं को विश्वसनीय कर दें तो भजन, कौन्तम, जप, स्तुतियां और आराधनायें सभी नवोत्सव हो जाएँगी।

परमार्थ निर्विकल्प भी हो सकता है, परंतु व्यवहार स्वतंत्र वस्तुकल्पक है। हम उसके लिए हैं, जनम है नहीं रहते, हैं। हम व्यवहार-दृष्टि से द्रव्य साश्वत है। तस्ता है उसके का उपलब्ध, परंतु व्यवहार में एक ही द्रव्य में अनेक कल्पित नाम और द्रव्य प्रकट हो जाते हैं। विभिन्न से घट, कार्य (सकोरा), कुंड, धनाल, हाथी, पौड़ी और अन्य विलासों को आकृतियों उत्सव होते है। युद्ध कुंड, कड़, केंद्र, किंकिंड, कीतिरीट, दीनार और निष्क उभयों में परिणत प्राप्त करता है। तनुजों के संग्रह देते हैं अकृति का प्राकृतिक होता है। ये भी आकृतियाँ और नाम मानव-निर्मित हैं, द्रव्य में प्रारम्भ से नहीं रहते हैं। इस प्रकार मनुष्य प्रकृति से उपादान के रूप में प्राप्त द्रव्यों को आवश्यकतानुसार विश्वसनीय रूपों में परिणत करता रहता है, किन्तु उन रूपों की स्वतंत्र सत्ता नहीं है, व्यक्ति धर्म के पश्चात सभी
आकृतियाँ बिखीन हो जाती हैं, द्रव्य ही शेष रहता है। यथापि मानवकुल नामों और रूपों की पार-मायिक सत्ता नहीं है, तथापि उनके बिना काम नहीं चल सकता है। तत्तु मांगने पर पट नहीं मिल सकता, यथापि तत्तु ही पट है। मूर्तिका मांगने पर घट नहीं मिल सकता, यथापि मूर्तिका ही घट है और सुवर्ण मांगने पर आप कुंडल नहीं पा सकते, यथापि सुवर्ण ही कुंडल है। परन्तु सत्ता द्रव्य की ही होती है। मिथ्या आकृतियों और नामों की नहीं, इसे सूर्य भी जानता है। दीवाली में चीनी के हाथी, चोड़े और उड़ बिकते हैं, परन्तु बच्चे भी उन्हें हाथी, चोड़े और उड़ समझ कर नहीं खाते हैं, चीनी सजाकर खाते हैं।

द्रव्य की सत्ता पारसारिक होते पर भी हमारा प्राथ्य द्रव्य ही नहीं है, मिथ्या नाम और रूप भी हैं, क्योंकि उनमें व्यवहार-सम्पादन की विकल्पण क्षमता होती है। केंद्रण करते वाला सुवर्ण पाकर ही सत्तु होती है जाता है, और न घट करते वाला मूर्तिका से, क्योंकि द्रव्य पवयिं (विकार, रूप) के बिना मूलभूत में अनेक स्थलों पर कार्य-सम्पादन में अवश्य ही जाता है। हम मूर्तिका-पिण्ड में नहीं, घट में ही जल भर करते हैं, तत्तु से नहीं पट से ही तन ढूंढना सम्भव है। इस प्रकार व्यवहार-श्रेण में रूप की अपरिहार्यता सिद्धि है।

मानव द्रव्य के अभाव में भी रूपमात्र से सत्तु हो जाता है। प्राकृत प्रणयों को व्याकरण विश्लेषण के व्याकुल क्षणों में प्रचंडी का सतर्क चित्र ही धीरज बनाता है। काठ का घोड़ा पास नहीं खाता है, सात भी लेकर दौड़ भी नहीं सकता है, क्योंकि हम व्याकरण और धर्म भी हैं। द्रव्य के अभाव में रूप का प्रेम विकल्पण है। बुद्ध और महाबोधी अव नहीं हैं, परन्तु उनके प्राणाय-प्रतिमाएँ विद्वान हैं। उन प्रतिमा-प्रतिमाओं में बुद्ध और महाबोधी कहे हैं? उन्हें तो विश्व और कबीर भाग्य हो गया है। बुद्ध और महाबोधी तो भावण थे, निराकार ईश्वर की भी प्रतिमाएँ सन्नाटा होती हैं। तास के पास पर बादशाह के पास फौज नहीं रहती है, बीड़िये बच्चे नहीं देते और न गुलाम उसम ही बजाता है, क्योंकि वे बादशाह बीड़िये और गुलाम हैं। जिसने मानव की पशुस्त्र से उपर उठकर समय बनाया है, जो आज तक विद्वान के कोने-कोने में अखंड ज्ञानालय प्रज्ञविय होती है, वह मानव भी कोई रूप के व्यापार से सुकुम नहीं रहती है। सात की समस्त सम्पूर्ण भावालिपियाँ एक स्वतंत्र से जीवन में रूप को अनन्तायता का उद्धोश कर रही हैं। रूपादृष्टियों ही अवकाश या रूप हैं, परन्तु विद्वान लिपियों में उन निराकार, बीड़िये की भी पृथक-पृथक कल्पित आकृतियों गढ़ की गई हैं। विद्वान भावालिपियों में एक ही ध्वनि के पृथक-पृथक आकार मानव की कल्पनाप्रमाणता का तुलना देते हैं :-

<table>
<thead>
<tr>
<th>देव नामरी</th>
<th>फारसी</th>
<th>रोमन</th>
<th>तमिल</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>त</td>
<td>₹</td>
<td>T</td>
<td>₹</td>
</tr>
<tr>
<td>प</td>
<td>₹</td>
<td>P</td>
<td>₹</td>
</tr>
</tbody>
</table>

इत्यादि कुछ उदाहरण हैं। विश्व में बहुत सी भावालिपियाँ हैं और उनकी अनेक लिपियाँ हैं। ध्वनियों की आकृति के सम्बन्ध में प्रयत्न मतभेद सके निर्माण का प्रमाण है। परन्तु इसी मिथ्या और कल्पित वर्णाकृतियों में बेद, निरिपट, जैनमाम, वाइबिल, कुरान प्रमाण प्रमाण ग्रंथ लिखे गये

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org
बताइये, अर्थशास्त्रियों के अतिरिक्त आयात और निर्यात का यह आकार क्या कभी किसी और को भी दिखाई देता है? भौगोलिक मानचित्रों में देशों, मैदानों, पर्वतों, महसूसों, समुद्रों, नदियों और खरबे खाड़ीयों को देखने और पशु के माध्यम से पहचान जाता है। वस्तु: वहाँ उत्तर में एक भी वस्तु नहीं रहती है। विज्ञान में भी रूपहीन गैसों और ऊर्जा को स्वतंत्र चित्रों के द्वारा समझने की परम्परा है।

इस प्रकार मानव में क्रूर्तिम रूपनिर्माण की प्रवृत्ति नैसागिक है। वह अपनी रचना में केवल मूर्ति मुर्ति के रूपों का अनुकरण ही नहीं करता, अपूर्व मुर्ति और असत्य सत्यों की भी काल्पनिक आकृतियाँ गढ़ लेता है। यहीं नहीं, अपनी इच्छा-शक्ति से किसी भी नामस्पद द्रव्य का उसके भित्र इसके द्रव्य से अभेद रूप से भ्रमण करता है। मानव का स्वभाव मुर्ति है। इस प्रक्रिया को जैनशास्त्रों में स्वप्न प्रकट कहते हैं। इसकी दिशा रूप साम्य अनिर्धारित है, क्योंकि असत्य द्रव्यों की भी स्थापना द्रव्यों के रूप में की जाती है। प्रायः अन्यथा ज्ञान आयाम होता है, परन्तु स्वप्न प्रक्रिया अयाम होने पर भी भ्रम से भिड़ गाय नहीं होता है। भ्रम में भ्रम की प्रतिरोध की भ्रम होती है। स्वप्न में रूप की प्रतिरोधी होती है, परंतु स्वप्न प्रक्रिया में रूप की ही प्रतिरोधी होती है, स्वप्नक उसे आग्रह पूर्वक सर्प मान लेता है। जैनों ने तत्वनिरपेक्ष में स्वप्न प्रक्रिया का आवकय निशेष माना है। स्वप्न-प्रवृत्ति का उद्गम मनुष्य में मौजूद जीवन से ही होता है। बहुत सी छोटे बचने खेल में अपने अपने छोटे-छोटे पत्तियाँ रख लेते हैं और अगस्त में कहते हैं—'यह हमारा बोला है, यह हमारा हाथ है और यह हमारा ऊट है।' बालिकाओं में गुड़ियों और गुड़ियों के विवाह का खेल प्रसिद्ध है। कभी-कभी एक बालक कूद कर
ब्रज गणित में जो धन नहीं है, उसे भी धन मान लेने की निम्नलिखित पद्धति प्रसिद्ध है—

“मान दिया मोहन के पास अ रुपये थे”।

यद्यपि अ किसी भी दशा में रुपया नहीं हो सकता है, वह केवल एक अक्षर है, परन्तु इस मिथ्या कल्पना के आधार पर बड़े-बड़े कठिन प्रश्न हुए फिरे जाते हैं। भूगोल में एक बहुत बड़ा सफेद सूच चलता है। अपने मानचित्रों के नीचे लिखा हुआ निम्नलिखित ढंग का पैमाना अवश्य देखा गया—

1 मीटर = 100 किलो मीटर

एक मीटर एक सी किलोमीटर के बराबर कभी नहीं हो सकता है, इसे एक सूर्यभी जानता है तो वह भूगोल के विद्वान प्राचीनक नहीं जानते होंगे? मे समझता है, वे असंय से सल्य की ओर चलकर ‘असतो मा सदू गमय’ की वैदिक प्राचीनकों को चरितर्थ करते हैं। सी रुपये का नोट व्यस्ततः काम का छोटा सा दुकान ही हो, जिसका मूल्य कोई के बराबर भी नहीं है, परन्तु स्थानाने की शाफत से उसी काम के दुकान के बदले सी रुपये के समान पिछला जाते हैं। स्थानाने आहार्य बुद्ध का परिणाम है। मिथ्या होने पर भी उसकी उपेक्षा संभव नहीं है। दिशा को ही ले लोजिय, वह अपेक्षा-बुद्ध से उत्तर होती है। उसके अर्थक के लिये कम से कम दो वस्तुओं की सत्या अनिवार्य होती है। हम जिसे पूर्व कहते हैं, उसे ही दूर रा पक्षल कहता है, एक तीव्रा उसी को उत्तर कहता है तो चिया उसी को दक्षाय मानता है।
व्यावहारिक जीवन में नाम, रूप, स्थापना और प्रतीक

इस प्रकार दिखा की कोई निष्क्रियता सीमा नहीं है। वह वस्तु सापेक्ष है, स्वतन्त्र नहीं; फिर भी इस अनिवार्य एवं अस्तित्व बुद्धि विकल्प की स्वीकृति के बिना, व्यवहार-शृंखला को कई कड़ियां दुबंजाती हैं। पारामार्थिक सत्ता की अन्य ब्रह्मा से विवेक-हीरा होकर व्यावहारिक सत्ता की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये। स्थापना असावे होते, तो भी व्यवहार में शिक्षा से कम महत्व नहीं रखती है। जैन शास्त्रों में शिक्षा के दस भेद उल्लिखित हैं, जिनमें नाम, रूप और स्थापना को भी व्यावहारिक रूप से सत्य व्यक्त किया गया है।

जो वस्तु जिस रूप में नहीं है, किसी प्रयोजन से उसे उस रूप में मान लेना स्थापित है। है। इसके मुताबिक तथा व्यक्ति—दोनों की इच्छाएँ सम्बन्ध नहीं है। अलग दृष्टि की जिस निष्क्रिय दृष्टि पर स्थापना की जाती है, वह उस दृष्टि का भौतिक बन जाता है और उसमें व्यवहार-सम्प्रदाय की आपूर्ति शक्ति उत्पन्न होती है। मन्त्र का कोई अनाकार नहीं है, फिर भी रसायन पतलु, दधि, दूध, हरिद्रा, पुष्प, अक्षा, अमृत, खन्नु, मंदिर, गो-रोचना, कस्तूरी आदि मंत्रालय प्रतीक हैं, क्योंकि उसमें मंत्र स्थापना है। भ्रंग के गले में पुष्पालय बाल बने देने पर उसे क्या मिल जाता है? उसकी अपेक्षा पेट भर छोटी खिला देने पर अधिक सुविधा है। परस्तु नहीं, पुष्प हमारी श्रद्धा। भक्ति, पूजा, निदाश और प्रतिमा का कोमल प्रतीक है। यह ही पुष्पालय पहले से पेट न भरो, परस्तु हरद कुंजला से अवश्य अभिमूल हो उठता है। पुष्पों में भी मंत्र-स्थापना सर्वोत्तम नहीं है। कोझी, लोकी, बैगन और तरोई प्रभाव बन्दूकमालों के पुष्पों को मानक नहीं माना गया है। स्वीकृत विवेक और चन्दक में कोन सा मंत्र दृष्टिमात्र होकर बैठा है परस्तु प्रतिमा शुभ कार्य में इतनी रचना की जाती है। काव्य कादा का अर्थ किसी का अपमान नहीं है, लल कंठ का अर्थ देव का रचना नहीं है और हरी संधि का अर्थ देव का चन्दन नहीं है, परस्तु काला कंठ दिखाने वालों पर लाल बांध होता है, लल संधि दिखाने पर देव शक जाते हैं और हरी संधि दिखाने पर चलने लगती है। इस प्रस्ताव को शुद्धक अभाव करते हैं। वह एक साधारण वस्तु होते ही भी राधाकृष्ण ऐसा और प्रतिमा का प्रतीक है। प्राचीन काल में पंचायतों के पंचों के पास कोन सी सेवा रहती थी? एक साधारण और निवास मन्त्र भी मंदिर मालक का प्रतीक बनता जो भी देव दे देता था, वही सबको श्रद्धार्थ होता है। रामलीला और नाटक में न तो सच्चिदार सीताहरण होता है और न राम बिलास ही बनते हैं। दृष्टिक अनिवार्य है और बिलास भी कल्पित है, दृष्टिक इस तथ्य को जानना भी है, परस्तु उसकी आवश्यक सज्जा ही उठाई है। यह भी प्रतीक की महिमा। साहित्य में अन्यंकों और रूपाकारिताओं से अन्याय प्रतीक है। श्रीकृष्ण का 'द्वारा सुपर्ण' समुद्र सहायता समाने वृद्ध परिसरात्मा' इत्यादि मन्त्र प्रतीकों की अपरिहार्यता का प्रमाण है। सुपर्ण पद्मी का आभासिक है और वृत्त पद्म का। मन्त्र में ये शब्द जीव, परमात्मा और जन्म के प्रत्यक्ष हैं। सत्ता की नींव से 'साँच बराबर तप नहीं, छूट बराबर पाप' कह कर सत को सब्जेक्ट तप और श्रृंग को सब्जेक्ट पाप घोषित किया था, परस्तु व्यवहार में असावे प्रतीकों की परिधि को भी नहीं लाख पाये—

1. व्यावहारिक जीवन में नाम, रूप, स्थापना और प्रतीक

पद्मरक्षेत्राम्—( धर्मावत् ) सत्यपुञ्जान्ययोगवादार, १११२, पृ ११७।

१५
विश्वनाथ पाठक

ल्री समुद्र भाग, नवि जरि कोइला भह।
कहे कबीरा जाना, मछली रहे चढ़ गई।

इस सोरठ में यात्राय दृष्टि से बिलकुल मिलता और असनतत्र जान कही गई है। समुद्र में आग कभी नहीं लग सकता है। यदि लग भी जाने तो उसी को जलायेगी। यहाँ तो भाग भी है। समुद्र में और जलकर कोइला हो रही है नवि जरियाँ। ब्या जरियाँ बाई काण्ड है जो जलकर कोइला हो जायेंगी; भाग भी हो जायें। इस पर भी भाष्य में देखिये, जिस विचित्र भाषा ते समुद्र में जलकर नवि जरियाँ भी जला दाला, बहु अपने ईंधन बृहस्तों को बिलकुल नहीं जला सकीं, तभी तो बची हुई मछलियाँ उन पर चढ़ गईं। प्रतीकों की शक्ति को स्वीकार किये बिना यह सौरठ उनमात्र प्राप्त बन जायेगा।

जैसे मूल के कट जाने पर बृहस्तों को हरियाली चली जाती है वैसे ही स्वापना समाप हो जाने पर प्रतीकों की शक्ति भी समाप हो जाती है। गाँव का एक साधारण व्यक्ति जिस स्वापना की शक्ति से कुछ दिनों के लिये राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री के रूप में महत्व एवं ऐतिह्य का प्रतीक बन जाता है, उसी के श्याम में 'युनुम्बुम्बो भव' की लोककथा को चर्चित करने लगता है।

जीवन में कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जहाँ नाम, रूप, स्वापना और प्रतीक का अधिकार न हो। किसी क्षेत्र में वे प्रतिष्ठा नहीं हैं। कहीं भी उनके विरोध का स्वर नहीं गुजा देता है। केवल उपासना में पता नहीं क्यों कुछ लोग प्रतीक (प्रतिमा) का विरोध करते हैं। आचरण है, कल्पित नाम स्वीकार करने में किसी को भी आपति नहीं है। निराकरण वर्ण, गुण, क्रियाओं और संज्ञाओं की कल्पित आकृतियाँ गड़ लेने पर कोई पाप नहीं लगता है। गणित और भूगोल में असल बातों को कहने जिहा देते जाते हैं और भूमध्यस्थ कल्पना के दुक़ान्दों को बहुमूल्य मान लेते हैं जब भी बृहत का दिवाला नहीं निकलता, केवल आराध्य की प्रतिमा बना लेते हैं हम अपराधी हो जाते हैं।

—हों ॥ ३० इंटर कॉलेज, टांडा, फैजाबाद ( २० प्र० )
बश्रूपक और नाट्यदर्पण में रस-स्वरूप एवं निष्पत्ति : 
एक तुल्नात्मक विवेचन

काजी अभ्यूषन गैसो

‘मुँज महौरा गोशी वैदव्य भाजा’ के उद्धोपकार्यां अचार्य धनन्त्र का दशरूपक और 
‘वैधिक वेदिनो’ जैसे विलिण के प्रयोगकार्य जैनाचार्य रामचन्द्र-गुप्तचन्द्र द्वारा समझित हैं। विचारित नाट्यदर्पण भारतीय नाट्य परस्मर के आचार्य भर्त के माध्यमिक रूप में पक्षातु अपना 
महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। रस-स्वरूप एवं निष्पत्ति के सम्बन्ध में इन ग्रन्थों में प्रतिपादित 
विचार पर्यवेक्षण विचार-सरणि से परिपूर्ण भिष्म प्रतीत होते हैं। अतः इनका आध्यात्म ज्ञान 
और विज्ञान की दृष्टि से उपवेद्य प्रतीत होता है। दोनों प्रत्यक्षार्थ के मन्त्रों के पूर्ण स्पष्टीकरण 
और उनके प्रति व्याख्या की दृष्टि से यह आवश्यक तथा उचित प्रतीत होता है कि प्रथम उनके 
मन्त्रों का पृथक-पृथक कर तथविद्या उनका पारस्परिक तुल्नात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाये।

दशरूपक में रस-स्वरूप एवं निष्पत्ति :—धनन्त्र दशरूपक के बलुङ्क प्रकाश में रस-विशेषक 
विवेचन करते हैं। उनके अनुसार सामाजिक के विभिन्न में स्थित ‘रति’ आदि भाव ही ‘विभाव’ आदि 
के माध्यम से आचार्य द्वारा होकर उपलब्ध आदि रस-रूप को प्राप्त होते हैं। उनका मन्त्र यह है कि 
रस वाक्यार्थरूप होता है। जिस प्रकार वाच्य अथवा प्रकरण आदि के द्वारा ब्रह्मस्थित किया ही 
कारकों से अविचित होकर वाक्यार्थ होती है, उसी प्रकार ‘विभाव’ आदि से युक्त होकर ‘स्थायी 
भाव’ भी वाक्यार्थरूप होता है।

वैयक्ति के अनुसार वाच्य में किया की प्रकाश्यात होती है व्यतीत कारकों से युक्त किया ही 
वाक्यार्थ का आचार होता है। शोध अथवा वाच्य पाठक को किया-ज्ञान दो प्रकार से सम्बन्ध है—प्रथम, 
इसके प्रतिक्रियारूप सम्बन्धश: कथन द्वारा। यथा—‘गामभाव’ तान्य वाच्य में ‘अस्याज’ के रूप में 
किया का शब्दश: कथन किया गया है। द्वितीय, शोध अथवा वाच्य प्रस्तुत प्रकरण आदि के 
आचार पर किया का स्वर्य अध्याय कर लेता है। यथा—‘दाराम दारासर’ आदि वाच्यों में प्रकरण 
के अनुसृत ‘पिपेधि’ आदि उपयुक्त किया का स्वर्य अध्याय कर लिया जाता है।

1. आविष्कार मुझसे हीरा गोशी वैदव्य भाजा दशरूपमेतत्। ४१८६ दस०।
2. वैधिकवेदिनोभास्ते ततो नितं हृदयूपासा॥ नाव ३० का प्रारम्भिक श्लोकांम्।
3. विश्वसनुभावेभो वाच्यप्रमाणभिचारिम्।
   आपात्:स्वाच्छत्वाद्यभागो रस: स्मृतः॥ ४११ दस०।
4. वाच्य प्रकरणदोऽस्मृत ब्रह्मस्थित्वा यथा क्रिया।
   वाक्यार्थं कालानुसार स्वाच्छत्वस्तथेतः॥ ४१३७ पूवोक्तः।
5. प्रतिक-वृत्ति (दस०) पृ० ३३३।
उपर्युक्त लोकिक उदाहरण के सहित ऐसी ही व्यवस्था काय्य में भी होती है। उसमें भी यहीं ‘प्राये नवोदिता सत्यिः’ आदि के समान स्वयंसेविका-दानपर्यावरकत्व ‘रिति’ आदि स्थायी भावों का प्रयोग कर दिया जाता है। कहीं स्थायीवाचक शब्दों का प्रयोग न करके भी अपत्त्यक्षेपण उसका कणन कर दिया जाता है। स्थायीवाचक का परिवेश रूप में कणन भी दो रूपों में सम्बन्ध हो। कहीं प्रक्रिया आदि के द्वारा भोरता अथवा पत्थर को इसका ज्ञान हो जाता है और कहीं अविनव-वाचक रूप में सम्पन्न ‘विभाव’ आदि के कणन से यह ज्ञात हो जाता है, क्योंकि सहाय्य सामाजिक इस तथ्य से पूर्ति: मिश्र होता है कि अपने ‘विशिष्ट विभाव’ अपूर्व स्थायीवाचक के साथ संविधान रूप से रहते हैं। उपर्युक्त किसी भी रूप से जात ‘स्थायीवाचक’ काय्य में वर्णित विशिष्ट ‘विभाव’ आदि से परिपुर्ण होकर ‘रस’ कहा जाता है।

अतः स्पष्ट है कि धन्यजय के अनुसार लोकिक वाक्य, वाक्यार्थ और ‘विभाव’ आदि एवं ‘रस’ में पूर्ण साम्य है। वाक्य में स्थित ‘रिति’ आदि क्रियापद-स्थायी हैं, ‘विभाव’ आदि कारकपद-स्थायी हैं और ‘रस’ वाक्यार्थ रूप है। इससे यह तथ्य भी स्पष्ट है कि धन्यजय रस एवं काय्य में व्यवहार-व्यक्तिव्रूप सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते हैं तथा रस-विन्यास के प्रस्तुत में व्यक्तिव्रूप भी उनको अवैकल्य ही है।

रसतुल: कुमारिलस्वामी के समर्थक भीमांसकों के अनुसार पदार्थ और वाक्यार्थ परस्पर भिन्न वस्तुएँ हैं, क्योंकि वाक्यार्थ वाक्य में स्थित विशिष्ट रूपों के अर्थों का चित्रण में दशा नहीं होता उससे सञ्चारित भिन्न एवं नवीन वस्तु है। वाक्य में स्थित पद अभिधा आदि के माध्यम से परस्पर असमान रूप में अपने अर्थों का वापसी कर देते हैं, क्योंकि वे स्वर्ण-बोध-मात्र की सामग्री से युक्त होते हैं। अर्थों के परस्पर अर्थ के साथ उनमें भाव होता है। बाद में परस्पर असमान रूप में भरितहर इन अर्थों का तात्पर्यवृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ के रूप में परस्पर अन्वय अथवा संग्रह होता है। अतः भाट्योपासकों के अनुसार वाक्यार्थ-बोध तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही सम्बन्ध है।

धन्यजय जब रस को वाक्यार्थ-स्थायी नहीं कहते हैं, तब अपयोग रूप से उनका यही सम्बन्ध प्रकट होता है कि रस तात्पर्यवृत्ति का विषय है, व्यक्तिवृत्ति का नहीं।

धन्यजय के ध्यानाकार्य धर्मके अनुसार यहाँ इस शास्त्र के लिहे कोई स्थान नहीं हैं कि जब विभाव आदि पदार्थ ही नहीं हैं, तब रस किस प्रकार वाक्यार्थ हो सकता है, क्योंकि तात्पर्य-शास्त्रिक का परस्पर सम्बन्ध काय्य में होता है दोपट्ठें और अपोपट्ठें समस्त वाक्य कार्यक्रम भी होते हैं। काय्य के अर्थों में उपस्थित त्वर्क के बाक्य के सहृदय इसकी अनुपरिवर्त्ति स्वर्णस्वद ही है। काय्य-शब्दों की प्रकृति का विषय विभाव आदि हैं और इसका प्रयोगन निर्देशित सुवास्वद है। यह अन्वय-व्यापी के द्वारा पर ज्ञात होता है। विभाव आदि से संबंधित स्थायी भाव की ही अन्वयकीय सुवास्वद में निर्मित व्यवि तात्पर्य आदि का स्वर्ण-बोध रूपों में होता है। रसान्वित है। इस प्रकार में  

1. पूर्वकः पृ. ३३३-३३४।  
2. न वाक्यार्थक वाक्यार्थक नास्तीति वाक्यमु्। कार्यविधासाविधातातन्त्रार्थाए:। धर्मक-वृत्ति ( दश० ) पृ. ३३४।
दशापक और नाट्यदर्पण में रस-स्वरूप एवं निपति : एक तुलनात्मक विवेचन

‘रति’ आदि पदार्थ स्थानीय हैं और उनके संस्कृत ‘रति’ आदि स्थायीभाव वाक्यार्थ स्थानीय। अत: यदि ‘रति’ आदि काव्य-वाक्य के पदार्थ और वाक्यार्थ ही हैं।

काव्यार्थ के साथ सम्बन्ध के कारण आत्मान्द से उत्पन्न स्वात ही रस कहलाता है। कवि काव्य-शब्दों के माध्यम से राम आदि के व्यक्तिगत वैशिष्ट्य का वर्णन नहीं करता, अतः निजी विशेषताओं से रहित उनकी उदारता आदि अवस्थाओं का कथन ही उसको अभिव्यक्ति होता है। अत: राम आदि सामान्य आश्रय मात्र होते हैं। सूतकालिक राम आदि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता है, यथाविध काव्य में अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं का परिचय कर वह सामान्य रूप में ही उपस्थित होते हैं। कवि सामान्य आश्रय के रूप में इतिहास आदि को आधार बनाकर अपनी उद्भास कल्पनाशास्त्र से उनके भावों एवं कार्यों की उद्भासना कर चरित्र-विकास कर देता है।

‘रति’ आदि भाव रसोक के चित्र में वास्तविक में स्पष्ट होते हैं। राम एवं सीता आदि के रूप में काव्यगत विभाव आदि ‘रति’ आदि को माध्यमिक कर देते हैं और तब रसिक स्वस्त स्थायी-भाव आदि का ही रसके रूप में आवश्यकता करता है। अतः धनराज के अनुसार रस एवं काव्य में भाव-भावक सम्बन्ध होता है, वाद्य-व्यंजनकाव्य सम्बन्ध नहीं है। वह स्वयं रस-स्वरूप एवं प्रतिव्यूह का उपसाहर करते हुए कहते हैं कि विभाव, सब्रारूप एवं अनुभाव नामक ग्रंथ क्रमशः चन्द्रमा, निर्भेद एवं रोमांश आदि पदार्थों के द्वारा माध्यमिक स्थायीभाव ही ‘रस’ है और उसका ही रसिक के द्वारा आवश्यक किया जाता है।

धनराज इस आवश्यक का स्पष्टीकरण लोकिक उदाहरण के द्वारा करते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार मिट्टी से निर्मित विस्तृत हाथी आदि के साथ कोडार वालें अपने ही ‘उत्साह’ का आवश्यकता करता है, उसी प्रकार सीता आदि भी अर्जुन उदात्त पाठों के माध्यम से स्वस्त ‘उत्साह’ आदि स्थायी भाव का ही आवश्यकता करता है।

धनराज के अनुसार आत्मान्द से समुत्सृत रस की चार अवस्थाएँ होती हैं—चित्र का विकास, विस्तार, कृष्ण एवं निकृष्ण। यह चित्र-विकास आदि क्रमशः श्रुत्यार, वीर, बौद्धिक एवं रौद्र रूपों में होता है। यही अवस्थाएँ क्रमशः हास्य, अद्भुत, भयानक एवं कठन रूपों में भी होती है।

1. पूर्वक पृ ३२४-३३५।
2. स्वादः काव्यार्थ सम्बन्धातामान्द समुद्र।  ४१४३ दल ।
3. धीरोदताधवस्यानां रामादिः प्रतिवाकः।
   विभावयत्रस्वाधीनस्वतन्त्रसिद्धिः
   तस्य एव च परिपत्रम्योप्या गार वेदः।  ४१४०-४१, दल ।
4. पदार्थनिर्दितं वर्णोद्वधितः।
   काव्यास्तिभवस्यायुभाव प्रतिवाकं गारे।
   भावितः स्वदेः स्थानीय रसः च परिवर्तितः।  ४१४६,४७ पूर्वक।
5. कौड़ं नृत्यायर्धः वालानां दिवसाधिनः।
   स्वास्तिकः स्वदेः तदवत्त्यूकाचारार्थार्थाधिनः।  ४१४६-४७ पूर्वक।
हैं। इसी कारण हास्य आदि की कमाल: भृजाजार आदि से उत्पन्न कह दिया जाता है"। वस्तुतः चित्र-समेत की अंधकार से ही यहाँ भृजाजार आदि को हेतु तथा हास्य आदि को हेतुमान कहा गया है, कार्य-कारण-भाव के अभिप्रय ने नहीं।

नामकरणम् में रस-स्वरूप एवं निष्पत्ति:—आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने विभाव एवं व्यभिचारी भावों के द्वारा पूर्ण उत्कर्ष भाव और स्पष्ट अनुभावों द्वारा निर्धित स्थायी-भाव को मुख-दुख-बातची सर कहा है। स्थायी भाव के लोक-सिद्ध कार्य, हेतु और सत्यार्थों को कार्य में कमाल: अनुभाव, विभाव, और व्यभिचारी भाव जाता है। कार्य में परस्य रस की प्रतिपाद्या होती है और यह निष्पत्ति का रूप होता एवं निष्पत्ति के अंतीयत्र आते के कारण प्रत्यक्ष नहीं होती है। अत: परस्य रस की यह निष्पत्ति प्रतीत उसके नातोरिक अर्थात् अविनाय मूल कार्यप अनुभवों के माध्यम से ही होती है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार सामाजिकों के मनोराज्य के लिये अनुकूलित विभाव आदि के अनुकरण में प्रवृत्त नट में रसाभाव होने पर भी समम आदि अनुभावों की प्रात्यिक यह आश्चर्य व्यर्थ है कि यह रस के नातोरिक नहीं होते। वस्तुतः नटगत अनुभाव सामाजिकथाकार के जनक होने से उसके कारण ही होते हैं, कार्य नहीं। सामाजिकथा अनुभावों को ही प्रवृत्ति रस का बोधक होने से कार्य कहा जायेगा।

बास्त्र में लोकक जीवन में तथा, पुरुष एवं नट और कार्यकार रोमांच आदि अनुभाव सामाजिक में रस के जनक होने से विभाव ही होते हैं तथा इसके विपरीत प्रक्षक, बोटा एवं अनु-सन्धाता में स्थिर होने पर इनको अनुभाव ही कहा जायेगा, क्योंकि तब यह प्रक्षक आदि से स्थिर रस के नातोरिक होगे।

रस-परिभाषा के अवसर पर कथित ‘व्यभिचारी’ शब्द से रामचन्द्र-गुणचन्द्र का आश्चर्य सामाजिकथा व्यभिचारी भावों से है, अनुकूल या अनुकूलित व्यभिचारों से नहीं। रस के

1. पूर्वक त १४२-४५।
2. हेतु हेतुमुद्रा एवं समेत-प्रक्षक बिधितो न कार्यकारणभवावात्रियमेय तेयां कारणान्तरज्ञातात। व्यभिचार-वृत्ति ( दश० ) पृ० ३६४।
3. नात० द० १८।
4. यह तात्वक सर्वार्थ प्रसिद्ध परस्य रसस्य प्रतिपत्ति:। सा च न प्रत्यक्षा, चेर्चोपलोम्यार्थातिचिन्द्रयातु, ततमातु प्रक्षक एव। प्रक्षक च प्रतिपादितिरविवृत्तातूद वस्त्रन्तरातु। अत च रसेः अन्यस्य वस्त्रन्तरस्या-सम्बन्धोऽस्मिन्यादायकाविविद्रतं हृदयु। सिद्धित गुणा २० पृ० १४२।
5. परस्य विभावावदुविक्रियायां च परस्य प्रकार्य प्रवृत्ताय निर्देश रसाभावाविद समस्वेतस्यायों भवत्वक्षिति। नैपार्थ रसान्तोरिकथाराजश्रृंगीमयू। तेवा परस्य रसान्तकलाकार्यवादातु, नष्टता हि सम्बन्धो अर्थान्तरस्यायों निर्देशातु, प्रक्षकगतातस्या कार्यपूर्वकातु पृ० १४२।
6. रोमांचि-दंडाय प्रेम-पुरुष-उदासोत्स्वरूप रसान्तकलाव विभावन्यात्रितम:। प्रेमक्षकोत्तुन्तम्यात्माय हृदयातु रसस्य कार्यपूर्वक सालो व्यवस्थापकः। सिद्धित, पृ० १४२।
7. अन्त्र च रसान्तकलाकार्यविनिर्दितस्य पौष्टकारीणों व्यभिचारिणी रसस्थितता एव ग्राहाः। पृ० १४३।
पौष्पक इन व्यभिचारीयां जो अभाव में रसायन असम्भव है। नायक्षर्द्धण के अनुसार स्वी-चित्ता-रूप व्यभिचारी के अभाव में शुद्धज्ञाता, धृति के अभाव में हास्य, विचार के अभाव में करण, अन्य के अभाव में रूढ़ि, हर्ष के अभाव में बीर, वाज के अभाव में भय, शक्ति के अभाव में बीमार, खौफ और अभाव अर्थात् और निर्वेद अभाव में शान्त रस का प्राप्ति असम्भव है। अन्य अभाव असेर्फ चित्त बाल व्यक्ति को वाक्यांश-शाश्त्र अभाव स्थिर आदि के दर्शन होने पर भी उनके अभाव में रसायन नहीं होता है। इसके अर्थात् सृष्टि अथवा शीतलतापूर्वक चित्रित होने के कारण हो इसका यथा-तथा अभाव-सा दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः अनुकूल एवं अनुकूलन्त व्यभिचारी तो सामाजिक के रसायनधारण में हैतुमूल होते ने विभाव ही स्मृतकार किये जाये।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस की द्विविद्ध स्थिति को स्मृतकार करते है—प्रथम, लोकतान्त्र रस और द्वितीय, काव्यगत रस। नियत विषयक और सामान्य विषयक में से यह लीलिक रसायन पुनः दो प्रकार का होता है। नियत विषयक आशावाद व्यक्तिविशेष तक सीमित होता है, व्यक्ति इसमें लोक में वास्तविक रूप में स्थित सौंत एवं राम आदि विभाव व्यक्तिविशेष में ही स्थित ‘रति’ आदि रूप चार्यीवाद को ही रसस्थ में परिपूर्ण करते हैं। जब इन विभावों के द्वारा सामान्य रूप में अनेक व्यक्तियों के ‘रति’ आदि चार्यीवादों का रसस्थ में पोषण होता है, तब यह रसायन व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध न होने के कारण सामान्य विषयक कहलाता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार युक्त के द्वारा रागवती युक्ति का आध्य लेकर तत्सम्बंद अपनी ‘रति’ का न्यायार्थ’ के रूप में आशावाद नियतविश्वास्त है तो दूसरे में अनुरक विनिर्मल का आध्य लेकर सामान्य विषय ‘रति’ का उपचार सामान्य विषयक है। इसी प्रकार अनुसूची, लोक में बिस्म एवं रोती हुई युक्ति को देखकर सामान्य विषयक करण रसायन ही होता है। उनका स्पष्ट विचार है कि अर्थ रसों के सम्बन्ध में भी विशेष एवं सामान्य विषयवाद इत्यादि है।

काव्यगत रस विशेष और सामान्य विषयविभाग से रत्न होता है। काव्य के द्वारा मात्र सामान्य रूप में रसायनिक होता है; व्यक्ति का एवं अभिनव के द्वारा अविश्वास होते पर भी विश्वास के स्तर पर प्रतीत करने लाये गये ‘विभाव’ अथवा, अनुसूचित और प्रेक्षक के ‘स्थायीवाद’ को सामान्यप्रेक्षण ही रसस्थ में उद्वृत्त करते हैं।

नियत विषयक और सामान्य विषयवाद के अतिरिक्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र लोकतान्त्र और काव्य-गत रस की दो अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार लोकतान्त्र रस स्वरूप और
काव्य अनुम शैक्षी

प्रत्यक्ष होता है तथा काययात रस पररत और परोक्ष होता है। वस्तुतः नात्मदर्पण का प्रस्तुत स्थल किसीतूर्त अस्पष्ट-सा है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र यहीं लोक, नट, काव्य के शोरो, अनुभवाता और प्रकाश के रूप में रस के ५ आधारों का उल्लेख कर उनकी स्व-पररत और प्रत्यक्ष-परोक्षता का निर्देश करते हैं। दोनों की मध्य स्पष्ट विवाहन उनके द्वारा नहीं किया गया। आचार्य विष्णुक्ते इनमें प्रयं ५ के रसायन को स्वयं एवं प्रत्यक्ष कहते हैं तथा अन्यम् 'प्रकाश' को द्वितीय वर्ग में रखते हैं। डॉ० रसायन निर्बंध ने भी आचार्य विष्णुक्ते का ही अनुसरण किया है। वस्तुतः उनका यह दृष्टिकोण अनुचित प्रतीत होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र का आभीयार यहीं लोकयात और काययात रसायन है। डॉ० कवि कुमार चुंबकी का भी यही दृष्टिकोण है।

तृतीय विशेषता के अनुसार लोकयात रस स्पष्ट तथा काययात रस ध्यामल (अस्पष्ट) होता है। लोक में स्त्री-पूरुष आदि विभाजन के वास्तविक एवं स्पष्ट होने के कारण रस एवं उससे उल्लभ अनुभव और व्यवहारी मध्य भी स्पष्ट होते हैं। काव्य में प्रदर्शित विभाजन के अवस्थितिक होने के कारण रस के सत्त्व ही व्यवहारी एवं अनुभव भी स्पष्ट होते हैं और इस अस्पष्टता के आधार पर ही प्रकाश आविष्कार रस लोकयात कहा जाता है।

अब प्रस्तुत उठता है कि सामाजिक को रसायन किस प्रकार होता है? रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार अनुकर्ता द्वारा अनुकर्ता को न देखे जाने पर भी कवि-निबंध राम आदि के चरित्र को पहलक एवं अलग अलग अस्पष्ट के द्वारा स्वयं देखा-सा स्बीकार करके अभ्यास के समय नट को यह अध्ययन हो जाता है कि स्वयं साधन कुद्र राम आदि का अनुमान कर में अनुकरण कर रहे हैं। वस्तुतः अनुकर्ता राम का नहीं अनुष्ठु लोक व्यवहार का अनुकरण करता है; कवि व राम आदि के स्वयं प्रस्तुत होने पर भी राम आदि के रोने पर राम रोता है और स्वयं ज्ञान होने पर भी राम आदि के प्रस्तुत होने पर वह प्रस्तुत होता एवं होता है।

प्रकाश भी राम आदि वियवहार शब्द-संकेतों के अध्यात्म और अवस्था हृदय संज्ञात के कारण विवेश हो जाता है तथा स्वह्म, देश एवं काल का भेद होने एवं अनुकर्ता के अनुकर्ता न होने पर।

1. तदेव स्व-परसोः: प्रत्यक्ष-प्रत्यक्षायामं गमः सुम-दुहुःक्तयाम मोक्षयो नन्दसमासोः: प्रेक्षकस्य च रसः। पूर्वोक यो १४३।
2. हि नातो दातो ३०१।
3. संस्कृत-नाथ-सिद्धागत पृ० १५६।
4. रस-सिद्धागता, डॉ० कवि कुमार चुंबकी, पृ० १२४।
5. कैकल मुखप्रस्थ-पूर्व: स्याध्येक्तः हृणेण रसी विभाजनं परमार्थसत्तावः एवं व्यवहारिकोज्ञानाचः रसायनः। तत्र स्पष्टतृत्वः। अत्यं तु प्रकाशार्थी, ध्यामकेतैं हृणेण विभाजनाय विधिवस्तु दर्शनातृत्वः। आद्यवं व्यवहारिकोज्ञानाच सत्तानाशर्तास्पदा पदा। अत्यं प्रकाशार्थी रसो लोकयात इत्यादित्वे। व्यवस्थितम्, नातो १५० १४३।
6. रामयानरूपकर्त्व मनोन्नत उपनिषत्वमें स्वयंभूरूपताः। अनुकर्ता ह्युनाक्तवस्तु सत्तानूतमस्त। प्रकाशार्थिस्य च चावृद्धअनुकर्तवस्तु सत्तानूतमस्त। तत्रत्त्व-स्टोत्र मनोप्रस्थ-प्रेक्षकस्य स्वयंभूरूपकर्त्व आद्यवं स्वयंभूरूपकर्त्वादिकार्यस्वस्यस्त। प्रकाशार्थिस्य तं रामयान दृश्यो रोकितम्, न तु हस्तितवस्तु। व्यवस्थितम् च हस्तितवस्तु न तु रोकितीयादि। पूर्वोक यो १६७।
कवि निरक्षावधिकारी ऋषियों के जान के द्वारा निश्चयपूर्वक राम आदि का नाटक आदि में निबन्धन करते हैं। मुनियों के प्रति विश्वास के कारण सामायजिक कवि-निबन्धित उन चरित्रों में व्यक्ति विश्वास कर रहे हैं। अतः प्रेक्षकों द्वारा कवि विनिमय में नन्द का दर्शन साक्षात् अनुकूल राम आदि का दर्शन ही होता है। वस्तुतः वस्तुस्वरूप के सम्बन्ध में चरित्र-चक्षुओं से देखने वाले सामान्य जन तो आन्त ही सकते हैं, जान-दृष्टा ऋषि नहीं। समस्त साक्षात् दर्शन से भी अधिक जाने गये मूनि-जान द्वारा दृष्टि वह का वास्तविक रूप में अनुकूल करते वाले नन्द का निराकरण करने में दुबिधा बुद्धि प्रेक्षक असमर्थ होते हैं। उन्होंने राम आदि को देखा हो अयथा न देखा हो, परन्तु नन्द में उन्हें रामायण का अथ्यथाय हो जा जाता है। इसके विपरीत रामायण की आवास-विस्तार का जान होने पर वह रामायण की सुख-दुःख पूर्ण अवस्थाओं में तमाम नहीं हो सकते हैं। नन्द में राम आदि का अथ्यथाय रूप भावति से भी प्रेक्षक में उच्चार आदि राज्यों का उभेद होता है: क्योंकि स्थन में कामिनो, बैरी एवं चौर आदि को देखने वाले एवं रस के चरित्रावधिकार को प्राप्त पूर्व में भी स्तम्भ आदि अनुभव देखे जाते हैं। अतः प्रेक्षक की स्तम्भीति में इस तरह को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

काव्य में वाणित सीता के प्रति राम के अवश्यार का नन्द द्वारा अनुकूल किये जाने पर सामाजिकों में सीता विषयक अवश्यार का समुचित नहीं होता है। काव्य में सीता आदि के द्वारा अपने विषयक स्वरूप का परिचय कर दिये जाने के कारण सामाजिकों को यह रससाधन सामान्य स्त्री विषयक ही होता है। काव्य की यह प्रकृति लोक से सर्वथा मिलती है। काव्य के सदृश लोक में भी यदि सीता आदि निम्नात्मक विविध से आधार पर नियत-विषयक रससाधन ही होता है, सामान्य विषयक नहीं। सामान्य रूप में होने वाला यह रससाधन परस्पर वाहक नहीं होता है।

परम्परा तुलना और आलोचना:— धनुवार यूथ: रस-प्रक्रिया का अभ्यास होता है और इसी प्रकार ये यूथ-यूथ प्रमुख शब्दों के माध्यम से प्रत्यक्षारूपेण उनके रसस्वरूप विषयक वृक्षों को भी किंचित्तु आभास हो जाता है। इसके विपरीत रामचंद्र-नुर्णचंद्र रसस्वरूप एवं प्रक्रिया में पवन १६७।

1. प्रेक्षकों की रामायणस्वरूप कविता मूलि स्वरूप-प्रकटिकेत हृदयसंगीतकाहितविवाचन स्वरूप-देश-काल्याणेन तथा नृत्य-परंपरा चन्द्र-नृत्य-प्रकटिकेत नंदियु कालावधिक सम्बन्ध नंदे माजार विवाचनस्वरूपम्। अतः तांत्रिक सुख-दुःख पायु रामायणस्वरूप प्राप्त भवति। पृष्ठक पृ १६७।

2. विवृति, नाना दृष्टि भवति १६७-६८।

3. न हि रामायण सीतायं श्रुताय धनुवार नृत्यकाल्याणकारी सामाजिकस्त्री सीताविषय: श्रुतार: अल्पस्वरूप, अवस्था तथा सामाजिकस्त्रीविषय। नियतविषयकारिणी अवस्था: प्रतिनिधित्व विषयकारी न अल्पस्वरूप रसस्वरूप। तथा परम्परास्वरूपीप्रतिनिधित्वकाल्याणिकारी न विभाजनान्तर व एकस्त्र स्वरूप: सामाजिकस्त्रीप्रकटिकेतमूलस्वरूप, न पूर्वकारिणी अल्पस्वरूप। पृष्ठक पृ १४३।

१७
दोनों का निर्धारण करते हैं। वास्तव में रस-विषयक की अपेक्षा रस-श्रृंखला का उन्होंने अधिक सविस्तार विवेचन किया है। तथ्यात्मक दृष्टि से धनन्यजय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रस-विषयक अवधारणाओं में समय की अपेक्षा वैश्विक अधिक दृष्टिगोचर होता है। यदापि परवर्ती आचार्यों और वर्तमान आलोचकों द्वारा भी किसी समूह के विचारधारा को आधिकारिक रूप में स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकी, तथापि मुख्यतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने परस्पर से भिन्न अनेक नवीन तथ्यों का उल्लेख किया।

धनन्यजय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र की यदि रस-विषयक अवधारणाओं का बिहार लोक रंग किया जाये तो स्पष्ट: दोनों दो भिन्न पृथ्वीय पर आधारित प्रतीत होती हैं और तार्किक रूप में यही पृथ्वीय पृथ्वीय अन्य बिन्दुबाहु के समूह में सरकार रहती है। धनन्यजय का रस-विवेचन वैधिकता के अनुपातित रहता है और इसके विपरीत रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रस विषयक समूहि विचारधारा लीकिक धरातल पर आधारित है। उन्होंने यदापि रस की लोकोत्तरता का कथन अवधारण किया है, तथापि यदि लोकोत्तरता वैधिक लीकिकोत्तरता से पूर्णतः मिलते हैं, इसलिए है। वे धनन्यजय की समस्त रूपों को सुसाइडता के माध्यम की भी कदम आलोचना करते हैं। धनन्यजय द्वितीय रस की वायावधारण सत्ता भी उनको अभिप्रेत नहीं है। इसी प्रकार रसों की गुण-ञातान्त्रिकता, रस का लोकोत्तर रस का कायावध क्षेत्र नियत-विषयक एवं अनियत विषयक के रूप में इनका पुनर्विवेचन और लोकोत्तर रस की स्वागतता एवं प्रत्यक्षता तथा कायावध क्षेत्र की परगता, परोक्षता एवं वायावधना आदि रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनेक मन्त्रि धनन्यजय और उनके दसालोक की मूल प्रकृति के विपरीत प्रतीत होते हैं।

धनन्यजय का रस-विवेचन वैधिकता आधार पर प्रतिष्ठित है। उनके द्वारा भावकल्प व्यापार की वैधिकता और आलोचनात्मक से उत्तम स्वाद के रूप में रस का निर्देश इस तथ्य को प्रद करते हैं। अलंकारवादी मीमांसकों के सदृश वह भी तत्त्वप्रभुवता की दीक्षा करते हैं। रस-शुरू को दर्शन के आधार पर व्याख्यात करने का सर्वधर्म प्रमाण भट्ट नायक के दृष्टिकोण में परिलक्षित होता है तथा इसकी पराक्रम क्षेत्रदाता अभिनवमूल्य के विचारों में। अभिनवमूल्य और धनन्यजय का बांकुवार में लाभ स्वरूपकार है। बाद में उनके रस-विवेचन विचारों में वैधिकता के सम्मान के निर्देश का कारण था जब सरकार करते हैं। समूहि नाट्यवादी परस्पर से मात्र रामचन्द्र-गुणचन्द्र ही। ऐसे एकाकी विद्वान रहते हैं, जिन्होंने उनके रस के इस परराजा एवं सर्वभाऊ दार्शनिक आवरण को छिन्न-भिन्न कर उनको व्यावहारिक एवं लीकिक धरातल से सम्बद्ध करने का अपूर्व सार्थिक एवं शास्त्रीय प्रमाण किया।

बत्तु: यदि नाट्यवादी की भट्ट लोकल प्रसूत तत्त्व व्याख्याओं पर दुरुपाय कर रहे तो हम धनन्यजय का रस से सम्बद्ध अवधारणा की भट्ट नायक की व्याख्या के समानाधिक निकट पाते हैं। श्री श्री कामेने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। यदापि भट्टनायक का वर्तमान समय में कोई स्वतंत्र प्रश्न प्राप्त नहीं है, तथापि अभिनवभारतीय सहित परवर्ती अनेक ग्रंथों में उनके विचारों की प्रतिष्ठाक गया है। भट्टनायक के अनुसार काव्य दोस्तौं के अभाव एवं गुणों के सदृश्य और नायक में प्रवाह और नायक में बांध के आदि चतुर्विंत अभिनव से निज तितिया मौद्र संहार के निवारक

१. हिंदुमहावर्तक संस्कृत विभिन्न : श्री श्री कामेने, पृ २५४।


विभाव आदि के साधारणीकृत हो जाने से अभिमा भविषय व्यापार के द्वारा रस भावनामान होता है। अनुमान एवं स्मृति आदि से विलक्षण, रजो एवं तमोगुण के अनुसार से उत्पन्न चित्रण्ता के कारण हुआ, विश्वास एवं विकार का सत्त्व के उद्देश्य से प्रकाशमार्ग, आत्मनय के विज्ञानविद्यार्थीत्व रूप परमहामान्य विश्व भोजकल्य व्यापार से इनका भोग किया जाता है।

व्यावसाय का विरोध, अभिमा एवं भावकल्य व्यापार की स्वीकृति, रस एवं काव्य में भावय-भावाभिषक समवन्द स्थिराकर होना, रस की आन्दोलनका, विभव आदि का साधारणीकरण और रसावध के रूप में सामाजिक का कथन आदि तथ्यों के सम्बन्ध में धनन्दज्य और भूतनाय परस्पर सहसमा रखते हैं। यदि ते विपरीत दोनों आचार्यों के दृष्टिकोणों में कलिंग विद्विभागत भी थे, हमारे चन्द्र व्यापार भोजकल्य व्यापार के सत्ता-स्वीकृति, रस-स्वरूप के समवन्द में रजो एवं तमो गुण तथा सत्त्वक में उनकी प्रकाशमार्ग का कथन न बनाता, अनुकूली में भी रस की सम्भावना और तहतदिन निग्न रस की स्पष्ट निर्मलता आदि।

भूतनाय के सम्बन्ध में हाँ प्रेमस्वरूप गुण यह शिक्षा करते हैं कि उनका यह भावकल्य-व्यापार भोजकल्य दर्शन पर आधारित है। अतः भावकल्य व्यापार की स्वीकृति के कारण चन्द्र को भी इसका अपवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता है। वस्तुत: भोजकल्य में किया को ‘भावना’ के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है, और ‘भावना’ शब्द का प्रयोग दशरूप के भी प्राप्त होता है। साधु की सिद्धि के अनुगृह व्यापार की ‘भावना’ कहा जाता है। शायद एवं आचारी इतिहास ‘भावना’ में साधु, साध्वी और तीव्रता कर्त्त्वता अभिप्रेरित होते हैं। काव्य और नाटक के प्रस्तु के रस साधु, काव्य-भावना साधन और गुण, अल्पव्यापार और चुनित विभाग अभिव्यक्ति आदि इति कर्त्त्वता के अनुसार वितर्कित किये जायेंगे। अतः चन्द्र के रस-साधारण को अभिव्यक्त: भोजकल्य दर्शन पर आधारित स्वीकार किया जा सकता है। अभिव्यक्त: इस अर्थ में कि उन्होंने रस के आनन्दमयक को स्वीकार किया है तथा उनका आत्मनय से उपाध स्वाद भी कहा है। भोजकल्य दर्शन में आत्मा की आन्दोलनका का निपट किया गया है। वस्तुत: भोजकल्य दर्शन में परस्पर विरोधी अनेक विचार आए रहते हैं। भाटो का एक पक्ष मुकुटवास में आत्मा की आनन्दाव}-

1. तस्मात्काय दोषावादु गुणाद्वारमयज्ञमस्तवलक्ष्येन नाट्ये चतुर्विंशतियोत्पत्तिर्विद्विन्नमहंस्त्वत्करिणा विभावाभिलापः करणस्याभिप्रयोगः द्वितीयेनावणय रसस्यां अनुवाह वैचित्र्य बलादू हृदिवित्सार विकारः लक्षण्य सत्त्वों के प्रकाशानत्वमानसिद्धिविख्यातिकल्यक्षणे परमहामान्य स्वनिवेश भोजकल्य परं पुरुषोत्तरै इति। अभियो भूता ( नारा शार भाग-१ ) पृ.२७३।
2. रसगुज्ञाप्त का शास्त्रीय अध्ययन पृ.१४७।
3. काव्यां मानवस्याहो तत्कालय न बह जाते। ४१४२ दशा।
4. भावना नाम भविष्यवानकाल्यो भावियत्वार्थपार विवेचः। रसगुज्ञाप्त का शास्त्रीय अध्ययन, पृ.१४७ से उद्धृत।
5. साधारणीकृत: एक शास्त्रीय अध्ययन पृ.६९।
6. भारतीय दर्शन पृ.३२४।
काजी अर्जुन सीकी

शिक्षा अवस्था को स्वीकार करता है । अतः सम्मान है कि धनजय भी भाटों के इसी सम्प्रदाय के समर्थक और पोषक रहे हों । यदि वही वस्तुविद्यत है तो धनजय के मीमांसक होने में कोई सरदैव नहीं रह जाता है और यही सत्य भी प्रतीत होता है । डॉ॰ श्रीनिवास शास्त्री भी स्पष्टतया धनजय के रस-सिद्धांत को मीमांसक के आधार पर परिवर्तित स्वीकार करते हैं ।

धनजय के विरुद्ध रामचन्द्र-गुरुचन्द्र के रस-विवेचन में किसी भी दार्शनिक पूर्णार्थ का नितांत अभाव दृष्टिगोचर होता है । पूर्वशत के अभाव के कारण ही वह यथार्थवादी और लोकिक भावना से अस्थिर है तथा इसी आधार पर वह आचार्य भरत के मूल मन्त्र के सर्वाधिक निकट भी प्रतीत होता है । पूर्वशत यदि भरत के रस-मूर्ति के व्याख्याताओं को लोकशाही पर विचार करने तो रामचन्द्र-गुरुचन्द्र का विवेचन मूर्ति पूर्वक किया जाए तात्मिक कार्य रखता है ।

आचार्य भरत के रस-मूर्ति की व्याख्या के प्रसंस्करण में भट्टलोल्लट का विचार है कि स्थायीभाव के साथ विभाव आदि के संयोग से रस-निर्पन्न होता है । विभाव विचारित रूप स्वयं को कठिनता में अनपान्य है । रसजन्य अनुभव इस प्रसंस्करण में विचारित नहीं है, क्योंकि वह स्वयं रस से उत्पन्न होने के कारण उसके कारण नहीं हो सकते । अलंकार विभाव के अनुभाव ही कारण के रूप में विचित्र है । व्यभिचारी भाव यथापूर्वक विचारित नहीं हो से स्थायीभाव के साहसी नहीं हो सकते तथापि उनका वासनात्मक रूप ही यहां अभाव है । भरत द्वारा प्रदत्त सुधारात्मक में स्वयं आदि के मध्य किसी भी स्थायी के सदृश वासनात्मक और किसी भी भ्यभिचारी ने सदृश अनुभव स्थिर होती है । इसलिये विभाव और अनुभाव आदि से उत्पन्न स्वयं ही रस होता है ।

अपरिपूर्व ही स्वयं भाव कथा जाता है । यह रस मुख्यतः अनुकूल राम आदि में और अनुभवन्वय बल से अनुकूल होता है ।

कार्यित्व विद्याधर भट्टलोल्लट और उसके रस-विवेचन पर भी दर्शन को आरोपित करते रहे हैं । वामन शालकीकर उनको भट्टलोल्लट शास्त्री, आचार्य विवेचनेर उत्तर मीमांसक अर्थात केदारत्स, और डॉ॰ कान्ति क्षेत्र पाणिक्य श्रेयः कहते हैं । डॉ॰ तारकनाथ बाली उनको

1. दुःखात्मकमुख्ये सति प्रागातमवतिनः ।
   सुखस्य मनसा भूतिकुम्भकता कुमारिनः ।। मानमहोदय । भारतीय दर्शन, पृ ६२५ से उद्भूत ।
2. वेशौ-भूमिका : डॉ॰ श्रीनिवास शास्त्री, पृ ३५-३६ ।
3. अत्र भट्टलोल्लट प्रमृत्यस्यावदेव्य स्वास्थ्यः—विभाविकिम्: संयोगोःसत्तो वासनात्मक सत्य-निर्माणः ।
   तत्र विभाविक्षित वृत्त: विभाविकिम्य: उत्सत्तो कारणम् । अनुभवन्वय न रसज्ञा तत्र विनित्तिः ।
   तेषां रसज्ञानब्धित गन्नानन्दतः । भिन्न भावनामेवं बज्रनभवः ।। व्यभिचारिणात् विचारितात्मकाविद्
   यथापि सुधारात्मक वासनात्मक सत्य विनित्तिः । तृट्टात्मिति विभाविकिम्य: कस्यचिच्यु वासनात्मकता स्वास्थ्यत् ।
   अन्यस्यस्मेततः विभाविकिम्य: तेन स्त्रयेष्ब विभावितानुभवात्तिभ-रूपउत्पन्नः ।
   स्वयं भवतुपरिवर्तितः । स चोरिपिरिपः । मुख्या वृत्ताः रामायो प्राकृतकार्योऽनुकार्यज्ञुक्तर्क्षिति
   चातुर्वाचायवलानां—इति । अभि महो ( नारायण भाग-१ ) पृ २७२ ।
4. बालबोधर ( कार प्रतज्ञेन शालकीकर ) पृ २२५ ।
5. कार प्रतज्ञेन पृ १०१-१०२ ।
6. हिंदूस्तानी और इंडियन एस्पेक्टस पृ २८।
दर्शणक और नाथवर्ण में रस-स्वभाव एवं निपठति : एक तुल्यनामक विवेचन

रस-स्वभाव एवं निपठति का अर्थ हैं। पी० वी० काणे ने उनको पूर्व मीमांसक कहा है। वास्तव में पुरुष प्रमाणों और तथ्यों के आधार में इन पुरुषों को प्रामाण्य नहीं कहा जा सकता है। तात्पर्य दृष्टि से भट्टोलोत्त की व्याख्या किसी दार्शनिक ईश्वरसृष्टि से प्रस्तुत नहीं होती है, प्रस्तुत आचार्य-बल के यूरिय मंतव्य के अनुप्रयोग व्यवहारवादी दृष्टिकोण पर प्रतिष्ठित है। इस तथ्य का समाचार अनेक विद्वानों ने भी किया है। डॉ० ग्रामस्वरूप गुप्त, डॉ० नागेन्द्र, डॉ० कुकुरमार चतुर्वेदी और डॉ० रामलखन पुकल का नाम इस दृष्टि से प्रस्तुत किया जा सकता है।

डॉ० कुकुरमार चतुर्वेदी और डॉ० रामलखन पुकल का विचार है कि लोट्ट का अनुकूल से तात्पर्य कवि-निबंध पायों अथवा यो कहने कि सम्पूर्ण नाथवर्ण में ही था। वस्तुतः उनका आचार्य हृदयक राम आदि से ही था, कवि-निबंध राम आदि से नहीं, क्योंकि अपने सत्यार्थक आधार के कारण कवि-निबंध पायों में रस की सत्य का प्रत्येक ही उत्पत्ति ही होती है। अपने यथार्थवादी एवं ब्लुंचिक दृष्टिकोण के कारण यह लोकिक अनुकूल और कवि-निबंध अनुकूल में अन्तर अनुभव नहीं कर सके। वास्तव में इस आचार्य के आधार पर भी ऐसा स्वाभाविक करने पर रस का स्वभाव लोकिक हो जाएगा, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भट्टोलोत्त का रस का विवेचन लोकिक धरती पर ही अभिनव था, अलोकिक धरती पर नहीं। अतः उनके दृष्टि में लोकिक अनुकूल ही प्रत्यक्ष रस का वास्तविक भोग है और आधार भी। अनुकूल और सामाजिक की वास्तव भी उनका मान्य है, तथापि इनका रस विषयक प्रख्यातनृत्व उनकी स्वीकार नहीं है। यही भट्टोलोत्त और रामचंद्र-गुणचंद्र में आधारभूत सूक्ष्म साम्य है।

नाथवर्ण में स्पष्टख्य सार आदि लोकिक अनुकूल को भी रस का आधार स्वीकार किया गया है। लोकिक रस को स्वतः स्वीकार करने वाले रामचंद्र-गुणचंद्र प्रथम संस्कृताचार्य हैं। इसी आधार पर वे रस का अ.क.मो. और काव्यगत तथा नियत विपयत्व एवं अनियत अथवू सामाजिक विपयत्व के रूप में पूर्व: द्वितिया विकारकरण करते हैं। वे भी लोकिक रस को प्रत्यक्ष एवं स्वभाव कहते हैं। काव्यगत रस उनके दृष्टि में परोक्ष और परम है। सामाजिक को होने वाले रसानुमूल्य को भी वे परोक्ष ही स्वीकार करते हैं, प्रत्यक्ष नहीं। भट्टोलोत्त के ही समान अनुकूल को भी रसानुमूल्य का वे कहने करते हैं। वनन्नय भी यहाँ इस विचार धारा के समर्थक हैं।

रामचंद्र-गुणचंद्र की अनुमान के स्वभाव-विवेचन की पद्धति पर भी भट्टोलोत्त का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। लोकिक प्रेम आदि को प्रत्यक्ष रस के रूप में स्वीकृत रूप आधारभूत

1. रस-विद्वान का वार्तिक तथा नैतिक विवेचन पृ० ३७। (उपरेक्ष दोनों उदरण डॉ० नैगन्द्र के रस-विद्वान के पृ० १४९ से उद्वृत्त।)
2. टिर्डू आफ संस्कृत पीडितक—पी० वी० काणे, पृ० ५४।
3. रत्नद्वार जयचंद्र का शास्त्रीय अध्ययन पृ० १२६।
4. रस-विद्वान : डॉ० नैगन्द्र पृ० १५०।
5. रस-विद्वान : डॉ० कुकुरमार चतुर्वेदी पृ० ५८।
6. सामाजिक-निर्देश : एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० ३३।
7. रस-विद्वान : डॉ० महप्रीतकुमार चतुर्वेदी पृ० ५९।
8. सामाजिक-निर्देश : एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० २३, ३५।
साम्य के अधिक रामचन्द्र-गुणचन्द्र मघुलोक्त से भिन्न अन्य नवीन तथ्यों का भी प्रतिपादन करते हैं। मघुलोक्त रक्षा के नीचे व्याख्याता का कथन करते हैं—अनुकाय, अनुक्रिया और सामाजिक। रामचन्द्र-गुणचन्द्र इसमें काय के भोला और अनुभवतात्व को भी सम्मिलित कर दिना केन्द्र और अधिक विकसित कर देते हैं। लोकवीक्षक रक्षा की स्वैरुक्षता का बीज बदाय उन्होंने मघुलोक्त से प्रहृण किया है, तथापि उनके नवीन स्मृतिक द्वारे साम की तथा फल्वित करते ज्ञेय उनको ही प्राप्त होता है। लोकवीक्षक रक्षा में नियंत्र विषयक्त एवं अनियंत्र विषयक्त, प्रत्यक्षता एवं परामर्शक्त, स्वगतरता एवं परमार्शक्त स्थान और ध्यानलाभ आदि के रूप में उसका अधिक सूक्ष्म एवं वर्गीकृत विवेचन प्रस्तुत कर वे मघुलोक्त की परमपरा को लक्ष्योन्मूली गतिशीलता प्रदान करते हैं।

अब धनन्द्रजय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र की वैयक्तिक रस-विख्यात मान्यताओं की और दृष्टिकोण करते हैं। सर्वप्रथम धनन्द्रजय द्वारा तात्पर्यशिक्षक के विश्वृत विषय-क्षेत्र के आधार पर व्यक्तन की अस्सी क्षेत्र पर विचार करने। वस्तुतः इस सम्बन्ध में धनन्द्रजय द्वारा मात्र संकेतित मन्त्र का विश्वृत व्याख्यान करते हैं। अतः यहाँ धनिक के उपस्थित विचारों के गिर्जसू में प्रस्तुत करना अत्याधुनिक एवं अनुभूति हो गया।

धनिक का अभिव्यक्ति है कि समस्त व्यक्तों के कार्यरक्त होने से कायम के व्यक्तों का कार्य आत्मानुपूर्ति ही होता है। कायम के शब्दों की प्रकृति के विषयु के प्रतिपादक विभाव बादि के होने के कारण वह आत्मानुपूर्ति में निरंतर मूर्ति होता है। अतः यहाँ तात्पर्ययोग्य रूप में विभावन रशों का प्रतिपादन करते हैं। अभिव्यक्ति, तात्पर्य और व्यक्तन के मिलन कोई शब्द-शास्त्र नहीं है। तात्पर्यशिक्षक की कोई परिभाषा सीमा नहीं है। प्रबंधित-निर्वृति-बोध रूप कार्य पर्यतंत ही इसका विस्तार अथवा प्रसार होता है। वस्तुतः विश्व के विश्वकारण अर्थ पर्यतंत तात्पर्य का पर्यवसान होता है।

अतः स्पष्ट है कि धनिक तथा उसके अनुसार धनन्द्रजय भी तात्पर्यशिक्षक के केन्द्र को व्यक्तन पर्यंतविश्वृत कर उसको इसमें ही अर्थपूर्ण कर लेते हैं। निखंतहृदय उनकी यह तात्पर्यशिक्षक कुमारिल भुक्त आदि मीमांसकों की संकेतित और सविश्वसित तात्पर्यशिक्षक से पर्याय मिलन है। यह धनन्द्रजय का मौलिक चित्तर्व एवं नवीन वृद्धि है। मीमांसा साहित्य का वास्तव में उनका ध्यान ही माना जाएगा।

सब पूरा जाने तो धनन्द्रजय की इस तात्पर्यशिक्षक और ध्यनवादीयों के व्यवस्थापित में कोई मौलिक भेद नहीं है। यदि धनन्द्रजय कुमारिल द्वारा प्रतिपादित तात्पर्यशिक्षक में ही अश्वयों के अन्तर्भाव का प्रयतन करते तो उनकी सफलता संभव थी, किंतु उनका व्यक्त स्वरूप देकर उसके समस्त व्यन्त्रप्रपक्ष का अन्तर्भाव करने में वह सफल प्रतीत होते हैं। इस प्रकार यह मीमांसा सम्रादय को अपेक्षा ध्यनसम्प्रदाय के अधिक निकट बा गये हैं। यहाँ तक कि यदि उनके द्वारा प्रतिपादित तात्पर्यशिक्षक की है व्यवस्थापित कहा दिया जाये तो कोई तात्स्वत्क अन्तर नहीं पड़ेगा।

1. धनिक-शिक्ष (४२.१०) पृ॰ ३३४-३३९।
2. रस-सिद्धान्त: इतिहास और मूल्यक्रम पृ॰ १८०-१८१।
दशक्य और ताल्पर्व में रस-स्वरूप एवं निराकार : एक तुलनात्मक विवेचन १३५

आचार्य मम्मत ने ताल्पर्व वाले का खण्डन करने के लिए उसकी मूलभूत मान्यता 'यावलका धर्म' की कल्पना पर ही प्रहार किया है, किन्तु उनका यह कथन कुमारिल द्वारा प्रतिपादित ताल्पर्ववाले को लेकर ही प्रस्तुत है। धर्म एवं धनिक ने ताल्पर्व में वाचार्य को मीमारी सात्य निबंध कल्पना को उदार बनाकर इतना विस्तृत कर दिया है कि उसमें व्यक्तिवादियों के निर्हल प्रस्ताव का अन्तर्भाव हो जाता है तथा व्यक्तियों और ताल्पर्व एक ही हो जाते हैं।

परन्तु डॉ. नरेशचन्द्र पाठक के उपयुक्त विचारों के संदर्भ में भी धन्यवाद के इस मन्त्र को पुस्ति: स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उनकी दृष्टि में वाचार्य धन्यवाद स्वीकार करता है और व्यक्तिवाद वाचार्य धन्यवाद स्वीकार करता है। वास्तव में पदार्थवाद-वाचार्य और वाचार्य-व्यक्तिवादकों का प्रकृति रस्सय निवासित भिन्न है। वाचार्य धन्यवाद में पदार्थवाद-वाचार्य-व्यक्ति विचार नहीं होता है। ताल्पर्व यह है कि पदार्थवाद-वाचार्य में घटना प्रकृति निवासित धर्म होता है। धर्म मिलते जिस प्रकार घट के ज्ञान के समय कपल-रूप उसके उपादन करण की पुष्कर-पुष्कर विशे नहीं होता है, उसी प्रकार वाचार्य-बोध के समय परस्पर अनन्तित पदार्थ-बोध भी नहीं होता है; क्योंकि वाचार्य-बोध के लिए पदार्थकी चिन्ता प्रतिकृति अवधारण है, विभेन्दु प्रतिकृति नहीं है। वाचार्य और व्यक्तिवादकों के संबंध में वह न्याय विचार नहीं होता है, क्योंकि व्यक्तिवाद को प्रतिकृति के निर्वाण-साधन वाचार्य भी अभावित होता है, दोनों की साक्षात्कार सत्य परस्पर विरोधी नहीं है। व्यक्तिवाद की प्रतिकृति के लिए वाचार्य की प्रतिकृति की साधनकार्यकर्ता को आचार्य आन्तर्विक्षण का भी स्वीकार किया है। अब यदि विभाष और रस के प्रस्तर में इस वस्तुचित्रता का अवरोध करें तो स्वर्ग धन्यवाद का मत ही उनके विपरीत दृष्टिकोण होता है; क्योंकि यह अनुसूची के समय विभाष आदि की भी प्रतिकृति होती रहती है। इनके कमश: पदार्थ और वाचार्य-व्यक्ति होने के कारण दोनों की एक साथ होने वाली अनुसूची अस्तित्व है। अतः रस को वाचार्य-व्यक्ति स्वीकार नहीं किया जा सकता। रस वाचार्य से भिन्न व्यक्तिवाद ही है और वह ताल्पर्वशास्त्र का विषय नहीं है। उसके लिए व्यक्तिवृत्ति की व्यक्ति के अवधारण है।

भट्टाचार्य की आलोचना के प्रस्तर में आचार्य अमिताभ उनके भावत हेड़वाप में व्यक्तिवाद ने अमिताभ उनके भावत व्यक्ति को व्यक्ति से अभिनव सिद्ध कर देते हैं। उनकी आलोचना को यथावत धन्यवाद पर भी लागू किया जा सकता है। अमिताभ उनके अनुसार भावतवाद व्यक्ति का कोई पुष्कर कीत्वत्व नहीं है, अबिनत विश्वर रसों के उपयुक्त गुणों और अलत्तारों में ही उसका भी परिणाम हो जाता है। 'वाचक' शब्द स्वर्ग 'उपस्थता होना' अथवालो 'भू' धातु से निष्पत्त है। अतः काय को निर्वाह ही है।

1. रस-सिद्धान्त : इतिहास और गृह्यादिनः १८९।
2. नान्दचार वाचार्य-व्यक्तिवाद-व्यक्ति भाषा छोड़ेः १.८० ( आ.१० ) पृ० १३९।
3. अर्खे-वादवादवाद तथा साक्षर चीड़ियारूप स्थानः ४६२२० जैणीसूत।
4. ब्लिन-सिद्धान्तः विभूती का सम्बन्ध्—उनकी माध्यमकर्ता, पृ० ३६९ से उद्धृत।
5. यह वाच्य-वादवादत्व वाचार्य : संप्रतितत्त्वः २३०० ब्लिन।
रसों का भावक कहना प्रकारान्तर से स्वयं ही उसके उत्तरित-पक्ष को स्वीकार करना है। ध्यानयम है कि स्वयं की स्थापना से पूर्व स्वयं भूतनाशक स्तोत्तरक विवाह मे बल्लेबाज का लीडेन करते हैं। एक तथ्य यह भी है कि मात्र काव्य-शब्द ही रस के भावक नहीं होते; वर्योंकि अर्थ के अन्तत्र भी भावकत्व की सामर्थ्य से रहित होता है, करीनहू हमारे बोध्य है विविध शब्दों के प्रयोग से भी रस-भावना नहीं होती है। बत: शब्द और अर्थ दोनों सम्पूर्ण रूप से रस के भावक होते हैं। इन दोनों के भावकत्व का तो स्वयं हमने भी कथन किया है कि जब शब्द अथवा अर्थ स्वयं की अथवा अपने अर्थ को गौण करके व्यक्तिरथ की प्रकट करते हैं, तब विद्यानु उन काय्य को ध्यान कहते हैं। इसलिए गुण, अर्थक्वाय और अविद्या आदि इतिकारवता रूप व्यक्तिरथ-व्यक्ति के माध्यम से ही काय्य रसों को भावित करता है। अन्तर्यो भावना के करण नामक अंश में ध्यनन व्यक्ति ही होता है। भावकत्व की ध्यनन व्यक्ति में अन्तर्यों के कारण ध्नजाय कर्त्ता और ध्नक की सम्पूर्ण मायात ध्यानेत्र ध्यान हो जाती है।

बोर्स रामलखन शुक्ल द्वारा कुट हजार की यह आलोचना भी उचित प्रतीत होती है कि उन्होंने कवि-कल्पना को स्पष्टत: स्वीकार कर लिया है और यह सिद्ध किया है कि सामाजिक की वासना को उद्धरक करने में यह सहायक सिद्ध होती है और परिणामस्वरूप सामाजिक कल्पना ही वासना को स्तर भूतवत है, किंतु सामाजिक की वासना को स्पष्ट स्वीकृति देकर भी उन्होंने उसकी अभिव्यक्ति न मानकर बहुत बड़ी शुल भी है है। स्थायीमाय वासना के में प्रत्यिक सामाजिक में अवस्थित होते है। विवाह आदि उन्होंने स्थायी भागों को उद्धर करते हैं और सामाजिक की चर्चा स्वयं स्वयं स्वयं होती है। इस प्रकार यदि हम देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि रस की अभिव्यक्ति ही होती है। वह वायुयाध के रूप में प्रतीत नहीं होता। उन्होंने काय्य को रस-वान कह कर यह सिद्ध किया है कि यह लक्षणिक प्रक्रिया है। उनका कहना है कि रसों के मायात काय्य शहीद भूतत्व है। वह वनस्पता: रसवान कहीं होता, रसवान तो सामाजिक होता है। इतना स्वीकार करने के बावजूद उन्होंने वायुयाध में ही रस कैसे मान लिया? यदि स्थायीमाय ही विवाह वादिते द्वारा स्तर-योग्य बनते जाते हैं। और ये स्थायी भाव सामाजिक के हैं, जैसा कि ध्नजाय और ध्नक ने स्वीकार किया है, तो उनकी मायात निष्ठा ही उनके अपने मात के विपरीत पड़ती है।

1 भावकल्पणी समृद्धि गुणाल्लुरप्रभावहरमसामान्यविवृत्ति वित्तत्व विवृत्ति। किमितुद्वृत्ति। काव्य और रसवान प्रतिभाक्षमित्व यथावते तन भूतजैव भावनादुपयुक्त वृक्ष एवं प्रत्युपजोतिष्ट। लौ। (ध्यानो भाग—१) पृ० ३१७।

2. भद्रनायकस्वाह—रसों न प्रतीतियो। नोलितो। नाभिव्यक्तिः। अभिषो भाग। (नाओ शाओ भाग—१) पृ० ३१६।

3. न च काव्यशास्त्रां केवल्य भावकल्पम, अर्थप्रकरणां तद्भवात्। न च केवलनामयोजनम, शब्दवर्णोयाः-व्याख्यायाः तद्यथायाः। इत्यतः भावकल्प भावर्णोयाः व्याख्यायाः। यथार्थे शब्दो तद्भवात्। चैतन्य समान्य है। तस्मात् व्यक्ति-व्यक्ति व्याख्यायेन गुणाल्लुरप्रभावहरमसामान्यविवृत्ति वित्तत्व तत्त्वात्। इति व्यक्ति-व्यक्ति भावनायों करणाशो व्यक्तिनेत्र विस्तारित। लौ। (ध्यानो भाग—१) पृ० ३१६-३१७।
व्योमिक वाच्यार्थ का सम्बन्ध काय्य से है और काय्य में रस की निष्पत्ति नहीं होती। रस-रसना की निष्पत्ति तो सामाजिक में होती है ।

डॉ० रामलखन शुक्ल घनन्ध्य हारा काह्याब्याप्तित सामाजिक के परिप्रेक्ष्य में मिट्टी आदि से निर्मित हायरी आदि कीड़नके साथ कीड़नाट तथा फलस्वरूप अपने उत्साह का ही आस्वादन करने वाले बालक के उदाहरण की आलोचना करते हैं और इस पर वालक के ग्रह-तुरंग-न्याय का प्रभाव स्वीकार करते हैं । इस सम्बन्ध में घनन्ध्य की आलोचना करने से पूर्व हमको यह समर्पण रखना चाहिए कि इससे पूर्व पक्ष में ही इसके हेतुमूल विभाव आदि के नियमोप स्वरूप की काय्य द्वारा प्रस्तुति का घनन्ध्य क्षण कर चुके हैं। अतः, इस समय नायक आदि के सामान्य रूप के साथ सामाजिक के तम्म हो जाने की अवस्था है। घनन्ध्य इस उदाहरण के माध्यम से दो तथ्यों को स्पष्ट करना चाहते हैं। प्रथम, विभाव आदि के अवस्थिति होने पर भी काय्य हारा उपस्थापित उसके सामाजिक स्वरूप के साथ सहर्दास्ती की दृष्टि और स्वरूप अनन्त का ही उसके द्वारा आस्वादन। बालक जब कुष्ठित कीड़नके साथ खेलता है, तब अवस्थिति वह उसको न तो वास्तिक हाथ-पॉड़ा समाजता है और न ही कुष्ठित। इन दोनों ही अवस्थाओं से मुक्त होकर वह उसके साथ रागायजक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। कीड़ा के समय उसके अपने ही उत्साह आदि की अनुमूल्य होती है, इससे तो कोई सन्देह ही नहीं है। घनन्ध्य सहर्दास्त के रसायण को कीड़नाट बालक के सदृश नहीं कह रहे हैं, अपितु उपमा ग्राम दे रहे हैं। सम्बन्ध: डॉ० गुरुकुल को इसमें इस-लिए भी अनौपचारिक प्रतिक समझ कि वह बालक के स्वीकार हारा को गृह सामाजिक की दृष्टि से देखते हैं। वस्तुतः उसका भी उसी परिप्रेक्ष्य में अवबोध बाल-दृष्टि से देखन तो यह अनौपचारिक अनुभव ही प्रतिक होगा। डॉ० मुखेशनाथ शर्मा भी घनन्ध्य हारा द्वारा प्रदत्त इस उदाहरण की महत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह सहर्दास्त के अनुभव-संसार तथा काय्य-परिवेश के अन्तः सम्बन्ध को कीड़ाप्रकार अवधारणा के आधार पर बिश्वासित करते हैं । यथापि घनन्ध्य ने कीड़ना-कृति में किसी दार्शनिक अवधारणा मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ को अपनी अवधारणा के गुण में स्वापित नहीं किया है, किन्तु अनुकूलित के काय्यप्रतिक स्वरूप के साथ प्रामाण्य के अन्तःसम्बन्ध की संकल्पना का एक विशाल धरतार इस व्याख्या से उदाहरित हुआ है।

वर रामचन्द्र-शुभा के मल्य की और आलोचनात्मक दृष्टिकोण करते हैं। सर्वप्रथम उनकी लौकिक प्रमाण आदि की भी रस-रूप में स्वीकृति से सम्बन्ध अवधारणा का अवलोकन करें। वस्तुतः सूदीर्घ नागर्ण अनुभव परस्परमें किसी भी आचार्य द्वारा होकर रह की सदा-स्वीकृति का आयाम नहीं किया गया। आह्वानिक रूप में महत्वपूर्ण को उल्लेख अवस्था किया जा सकता है। तथ्यात्मक दृष्टिकोण से रामचन्द्र-शुभा की इस मान्यता का समर्पण उच्चत प्रतिक होता है लेकिन और नाभ्य की प्रतिक सर्वथा मिश्रित होता है। इस सम्बन्ध में डॉ० रामरूप तिनिद्धारा को उद्धृत करना अवसरहृद्दृप होगा। उनका कथन है कि मेरा एकमत्य उनसे विश्वक होनें है जो यह मानते हैं।

1. सामाचारिकरण: एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० १०८ ।
2. पृ००० पृ० १०९-११० ।
3. अभिवद्धता संस्कृत-काव्य-शास्त्र में सामाचारिकरण-विमर्श पृ० ४५।
4. पृ००० पृ० ४५ ।

१८
कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस की लोकोत्तरता का तो कथन करते हैं। परंतु इस सम्बन्ध में दिया गया उनका तत्व विचार है। काव्यगत विभावों के अवस्तत्विक होने से सामाजिकस्थ अनुभवों और अभिवृद्धियों की अस्पष्टता के इस लोकोत्तरता का आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता है। एक तथ्य यह भी स्वाभाविक है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र यहाँ रस की लोकोत्तर कहते हैं, लेकिन नहीं। रस की अब्दुल-उमैम रूप उभय्यास्थ प्रकृति के उद्धोषक होने के कारण वे अभिवृद्धियों आदि समस्त रस के अलोकिक्तता का समर्थन करने की स्थिति में नहीं हैं। अतः उनके द्वारा मान्य रस की

1. रस-विचार : पृ २७।
2. अपराजी काव्य संसार के विचित्र प्रजापति।
   यथाक्रम रोचक विचित्र तथये परिवर्ति। १० धन्या ( उत १२२।
3. विचार, नाट शृंग पृ १४२।
लोकोत्तरता लोकगत रस से उसकी भिन्न प्रकृति का बोधमान कराती है तथापि उनकी यह लोकोत्तरता विषयक अवधारणा भी सर्वथा अग्रजा है।

अभ सामाजिक की रसातुमूलति के सम्बन्ध में धनन्द्रजय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र के विचारों को तुलनात्मक दृष्टि से देखे। दोनों के विचारों में अंतर परिलक्षित होता है। हुकुम रचना के समय राम आदि वास्तविक अनुकूलय के उपस्थित न होने पर भी भृकुषुलय कवि अपने ज्ञान-चक्षुओं से उनके दर्शन कर काव्य में उनका उपविनत्यन करता है। इस प्रकार कवि-कल्पना और काव्य-निर्माण में उनके महत्व को धनन्द्रजय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र समानार्थ विशेषता करते हैं।

धनन्द्रजय की मान्यता है कि कवि निवास अनुकूलय वास्तविक अनुकूलय से भिन्न होते हैं क्योंकि काव्य में कवि व्यक्ति-विवेक का नहीं अपितु उनकी धीरोदात आदि अवरथाओं का ही विचार करता है। व्यक्तित्व वैतिष्क से रहित हो अवस्थाएँ ही सामाजिक रथ आदि की भावना कर उसके रसात्मक में निर्मितरमूल होती है।’ धनन्द्रजय ने यदापि भृकुषुलय के ‘साधारणकरण’ शब्द का प्रयोग तो नहीं किया तथापि यहाँ बहुत वस्त्रपत: विभाव आदि के साधारणकरण का ही कवन करते हैं। इसी प्रसंस्करण में यह भी साधारण है कि विभाव आदि के सदृश स्वायत्तकाव्य के साधारणकरण का उलेख भृकुषुलय के समान उत्थान पर भी नहीं किया है। सर्वत्रत: धनन्द्रजय ने विभाव आदि के साधारणकरण की अवस्था में स्वायत्तकाव्य के साधारणकरण को सवायत्त क्रिया मानना कर अनन्तिष्क ही छोड़ दिया। दांो रामलखन शुक्ल के अनुसार विभाव आदि के साध स्वायत्तकाव्य के साधारणकरण की स्वीकृति अवस्था ही चाहिए, अन्यथा रस किस आधार पर भावमान होगा। काव्य-साइन्द्रम जब सामाजिक की शेतना को उत्तरित कर देता है, उस समय काव्य-निर्मित भाव से सामाजिक का निजी भाव उद्भुद हो जाता है और साधारणमूल रूप में ही उसकी उद्भुद होगी। सामाजिक के वातावरण साधारणमूल भाव की उद्भुद ही रस के भावित होने में कारण होती है। ।२) भृकुषुलय के प्रसंस्करण में उनके द्वारा अनुकूल होने पर भी स्वायत्तकाव्य के साधारणकरण को स्वायत्त क्रिया के रूप में गोविन्द ठाकुर और वाणन झलकीकर ने भी निविद्य किया है।

रसातुमूलति की इस प्रक्रिया में रामचन्द्र-गुणचन्द्र कहीं भी धनन्द्रजय के सदृश विभाव आदि के साधारणकरण की स्वभाव रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि में तो इसके मूल में अवधारणा का भाव ही सक्रिय है। इसके भी दो चरण हैं। प्रथम तो अनुकूल के मूल अनुकूल के साथ अवधारणा होता है और द्वितीय प्रश्न का। अनुकूल के अवधारणा में उसके द्वारा कविनिवेश चरित्र का पुनःपुनः अवधारणा, अवधारणा विषयक अवधारणा और साधारणतः से मूल अनुकूल के अनुकूल की भावना इसमें सहयोग होती है। प्रश्न के अवधारणा में वास्तविक अनुकूल से सम्बन्ध

1. दश ५५३०-५४१ दृष्टि ।
2. साधारणकरण : एक साहित्य अभ्यास पृ ५० १४२-१४३।
3. भावचन्द्र साधारणकरणम । तैन हि व्याकरण विभावावः स्वायत्त स च साधारणी क्रियास्यः । पुंसौक प्रश्न के पृ ५० १४२ से उद्भुत ।
4. अधिकारिक-दुतारामस्य विभावावः स्वायत्तस्य व्यक्तिविद्यामास्पतिरांगिपक्षावः साधारणकरणम् ।

"तदात्मना। भावमान: साधारणी क्रियामाणः । बालबो (कार प्र०—बाणन झलकीकर) पृ ५० १०७।"
वस्तुते यदि रामचन्द्र-गुणचन्द्र के विचारों को दृष्टि में रखकर संस्कृतानुसार की सम्पूर्ण परम्परा पर दृष्टि रखने को हम सहसा ही अनित्य प्रोढ़ आचार्य विमंत्रज्ञ जगद्यात्र पर एक जाते हैं। जगद्यात्र स्वप्नाय ज्ञानार्थ साधारणीकरण का विशेष वर तादात्म्य सिद्धान्त को स्थापित करते हैं। उनके अनुसार साधारणीकरण भी दोष विशेष की कल्पना के बिना सम्भव नहीं है। अतः साधारणीकरण और दोष विशेष रूप दो हेतुओं की स्थिति के स्थान पर भावना रूप के आधार पर भाषा की आधार के साथ अभेद-बुद्धि को स्वीकार करना ही अधिक अध्ययन श्रद्धालु होता है। इस प्रक्रिया का साधारणीकरण का समापन परिवर्तन रहता है। इस दृष्टि से विमंत्रज्ञ जगद्यात्र को रामचन्द्र-गुणचन्द्र की परम्परा में रखा जा सकता है।

परन्तु यदि रामानुस्मृति के सम्बन्ध से रामचन्द्र-गुणचन्द्र की नियतविषयक और अभिज्ञात अर्थी सामाजिक विषयक अवधारणा का अवलोकन करने को ऐसा प्रतीत होता है कि वह साधारणीकरण व्याख्या को स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनका रूढ़ कथन है कि वास्तविक न होने पर भी काव्य एवं अभिज्ञात के माध्यम से विचार करने पर भी विख्यात अनुस्मारक, प्रश्न और भोजन के साधारण स्थायीभाव की ही रस के रूप में उद्गम नहीं हैं। काव्य अथवा नाटक आदि में सीता के प्रति राम के सुधारभाव का अनुकरण किये जाने पर सामाजिक में सीता विषयक श्रृंगार का समूलमाल नहीं होता है। अतिरि उसको सामाजिक स्थायीवाद रहा होता है।

डॉक्टर एनको विदेशी और डॉक्टर गुणोच्चर घर के वाक्य में रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा साधारणीकरण-व्याख्या की स्थिति का कारण करते हैं। विशेषतः रूप से उनको वह अवधारणा उनकी ही स्मृति अनुकरण के साथ अवधारणा अथवा तात्त्विक तात्त्विक की एक साथ स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार

1. विश्लेषण, ना द० पृ० १६७-१६८।
2. यदि विभाविकी दो लोकप्रि यथावि भविक, तथापि काव्यविन वाक्यकारास्त्रीयं: शंकुनिला वाची ह्ये काव्य-काराकार को विशेषज्ञता विनिरूपन अवधारणा बोधनात्मक दोपानिकारकामानुसार किया हुआ पर्याप्ततामूर्त: अतः अवधारणे दोपानिकार। तेनव वाक्य, विकल्पक क बुद्धिरिपि निर्णय होता। रसगुण पृ० १४३।
3. विश्लेषण, ना द० पृ० १४४-१४५।
4. दि नाथद्विंश अंश रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र: ए क्रिकेट रह वर्ष पृ० १४६।
5. अभिज्ञातवर संस्कृत-साहित्यानुसार साधारणीकरण-विषयक पृ० ६५।
साधारणीकृत विभाग आदि के प्रभाव से ही प्रमाता हनुमान आदि समुद्र-लड़ान आदि रूप अलौकिक कायथ के साथ अठेद सम्बन्ध स्वापन्न कर लेता है और तब वह हनुमान आदि के उत्साह आदि का अनुभव करने लगता है।

रामचन्द्र पुरी इस विरोधाभास का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि विश्वनाथ के हृदय में विश्वनाथ का साधारणीकरण से तालम्य यही था कि प्रमाता के लिए नाथ्य-कायथ निम्न्प वायु का साधारणीकरण हो जाता है अर्थात् रामादि अलौकिक पात्र प्रमाता आदि के लिए अवस्था नहीं रहते। वह उनके स्वर हृदय जाता है तो उनके प्रभाव से वह उनके धर्म स्वापन्न कर लेता है।

आचार्य भरत का कथन है कि सामाजिक पुण्योग से रस निगम्य होते हैं।

विषय: विभाग नाथ्य-कायथ और साधारणीकरण के बीच एक संबन्ध है।

1. व्यापारीय विभाग नाथ्य-कायथ निगम्य: ।
2. साधारणीकरण और तालम्य पूरा ।
3. अन्य विभाग मान्योग रसा निगम्य: नारायण भगवत: ।
4. विद्याकृति-किताबुकृति संबंध: प्रमादनिद तस्तथा निगम्य: ।
5. साधारणीकरण और तालम्य पूरा ।
काजी अब्जुम सैफी

प्रमाता की रसामुखति के समब्दम में यदि आधुनिक मनोविज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाये तो
धन्यजय की अपेक्षा रामचंद्र-गुंरचंद्र की विचारधारा सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है।
डॉ. सुलेहचंद्र शर्मा भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि काव्यस्वाद और लोकामुक्ति
के जिस समब्दम को वे जिस यथार्थ मनोविज्ञानिक आधार पर प्रतीष्ठित करते हैं, उसमें अनुभूतियों
के सामाजिक के गुणात्मक कोटिकम की आधुनिक अवधारणा उनके चिन्तन को विविध बना
देती है।

काजी पाठा, विजयन (उ. प्र.) २४७७०१

संबंध प्रत्यय

१. अभिभोज्य संस्कृत-काव्यधारा में साधारणकरण-निर्माण : डॉ. सुलेख चन्द्र शर्मा ; देवपाणि परिपत्र
दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८१।

२. अभ. भा.-अभिभोज्य (नाममयस्त्र से उद्भूत )

३. का. प्र.-काय प्रकाश : ममट; आचार्य विलेक्स, ब्राह्मणो समिति, बाराणसी, प्रथम संस्करण
१९९०।

४. दरा.दराख्त : धन्यजय, डॉ. श्री निबास शास्त्री; साहित्य संस्कृतियाँ, मेरठ, तृतीय संस्करण १९६१।

५. बि नामध्येष ओर पामचंद्र एण्ड गुंरचंद्र-ए क्रिकेटन फेटड : डॉ. एच. विवेक; एच. डी. इस्टी-पाट्रू ओर इण्डियाली, अहमदाबाद, फ़स्ट एडिशन १९६७।

६. बिन्ने-ललित (धन्यजय के दराख्त से उद्भूत )

७. ध्वनि-सिद्धांत : बिरोधी सम्प्रदाय-उनकी मान्यताएँ : डॉ. गुरुखचंद्र पाण्डेय, नवमवी धाराक,
इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९७२।

८. ध्वनि-ध्वन्नितोक : अतिकलुक, डॉ. रामसागर विपाली, दिल्ली संस्कृति, मोदिलाल बनारसी दास,
दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६३।

९. ना. द.-नामध्येष : रामचंद्र-गुंरचंद्र; ओरिफार्ड इस्टीएट्ट, बड़ोदा १९६१।

१०. ना. शा.-नामध्येष : आचार्य भरत; भाग-१, ओरिफार्ड इस्टीएट्ट बड़ोदा, दिल्ली संस्करण
१९६६।

११. बाल्य-बाल्योत्तिर : भट्टाचार्य श्रीसागर के दलित काव्य प्रकाश की टीका : निर्माणसागर
प्रेस, बम्बई, डिल्ली संस्करण १९२१।

१२. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; दार्शनिक, बाराणसी, १९६७।

१३. रस-सिद्धांत : डॉ. श्रीपीतुकार चतुर्वेदी; प्रत्यावर्त, बसोदय नगर, सासनोंगट, अलीगढ़, प्रथम
संस्करण १९८१।

१४. रसांग्राम का शास्त्रीय अध्ययन : डॉ. प्रभुद्वारक गुप्त; भारत प्रकाशन मंडिर, अलीगढ़, प्रथम
संस्करण १९६२।

१५. रस-सिद्धांत : डॉ. नगेन्द्र : बेलगले पर्यालोचना हाउस, दिल्ली, तृतीय संस्करण १९६९।

१. अभिभोज्य संस्कृत-काव्यधारा में साधारणकरण-निर्माण ६५१।
16. रस-सिंहास : इतिहास और मूल्यांकन : सम्पादक डॉ. रामनीपाल शर्मा और प्रतापचन्द्र जैसवाल; समीक्षा लोक कार्यालय, आगरा १९७८।

17. इस-विश्लेष्य : डॉ. रामपूर्णि त्रिपाठी; विद्यामंदिर, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६५।

18. रसगंगा-रसगंगार-पाणितराज जगन्नाथ, बदरीनाथ क्षा और मदन मोहन क्षा, प्रथम भाग, चौलम्बा विद्यामंदिर, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९६४।

19. लोक-लोचन, ध्वन्यालोक पर अभिव्यक्ति की टीका (ध्वन्यालोक से उद्धरण)

20. संस्कृत-नाट्य-सिद्धांत : डॉ. समकाल त्रिपाठी, चौलम्बा विद्यामंदिर, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६९।

21. साधारणीकरण एक शालीनी अध्ययन : डॉ. रामसचिद शुक्ल; साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण १९६७।

22. सार-दृष्टिक दर्शन : विश्वनाथ; शालीन शास्त्री, मोतिलाल बनारसीदास, दिल्ली, सप्ताह संस्करण १९७३।

23. साधारणीकरण और तालाल : रामचन्द्र पूर्वी, पुष्कर प्रङ्ख, गान्धीनगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८३।

24. हिंदू नाटक-हिंदी नाटकदर्पण : रामचन्द्र-पुजाचन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६४।

25. हिंदू अधि संस्कृत पौयोगिक : पी॰ बी॰ कांगे, मोतिलाल बनारसीदास, दिल्ली, दूरे प्रकाश १९६५।
खजुराखो का पार्श्वनाथ मंदिर : ब्राह्मण एवं जैन धर्मों के समन्वय का मूलभूत

इनी कालान्तरण धर्म के दैवी-देवताओं को जैन देवमण्डल में उदारतापूर्वक सम्मिलित किया गया है। जैन धर्म की ६३ शताब्दियों की सूची में राम, बलराम एवं गुर्ज्र-गुर्ज्रुदेव के अतिरिक्त रावण एवं जारासंध भी सम्मिलित हैं। राम और नृजर गुर्ज्राधय धर्म के दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरित्र रहे हैं। जनमानस में इनकी विभेद लोकप्रियता के कारण ही जैन देवमण्डल में इन्हें कर्मव्रत २०वें तीर्थकर मृत्युस्त्र के समकालीन २७वें बक्षे और २२वें तीर्थकर नेविनाध के चंद्रेश भाई के रूप में ९वें वारुदके के रूप में मान्यता मिली। मधुरा की कुषाणकालीन नेविनाध-मूर्तियों में सर्वप्रथम बलराम और नृजर गुर्ज्राधय का निराकार हुआ है। मधुरा के अतिरिक्त बलराम और ब्राह्मण का अंकन देवगढ़ (मंदिर-२, १०वीं शती ई०) की नेविनाध मूर्तियों में तथा ध्रुववशस्त्र एवं गुर्ज्रवशस्त्र (१२वीं-१६वीं शती ई०) के बिंदुओं पर देखा जा सकता है। राम की मूर्तियाँ वेश खजुराहों के पार्श्वनाथ जैन मंदिर पर ही मिलती हैं। २४ तीर्थकरों के शासन देवताओं के रूप में निरस्त यक्षों और यक्षियों में भी अविकल्प ब्राह्मण प्रभाव से गंभीर है। इनके विषु, विष्णु, ब्रह्मा, इट, राक्षस, काकिके, काली, गौरी, सरस्वती, चामुण्डा के नामों और लक्षणों के प्रभाव देखा जा सकता है। खजुराहों के गोमुख यह और चक्रवर्ती यही तथा श्रृद्धासराय के ईश्वर यक्ष और गौरी यही दिखाये, यहाँ प्रभाव को पूरी तरह स्पष्ट करते हैं।

जैन देवमण्डल में ब्राह्मण देवों-देवताओं के सम्मिलित किए जाने के अन्य कई उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। किंतु यहाँ खजुराहों के पार्श्वनाथ जैन मंदिर पर आकारित ब्राह्मण देव-मूर्तियों का दोनों धर्मों के समन्वय के दृष्टि में अध्ययन ही हुआ है। खजुराहों के

१. पूजनदीय, ५०-५५-५६।
२. जैन मण्डल में विषु-विष्णु कुल पूजनपत्र (४७५०) और गुर्ज्र-नर्गुर्ज्रुदेव के समन्वय स्थलों में उद्देश्यमयसूर्य, नायकमॉर्फोजॉन एवं अंतमघवासों जैसे तीसरी-चतुर्थी शती ई० के प्रारंभिक स्थलों के अतिरिक्त जिनके निदेशक द्विवेशमण्डल (७७५००), महाश्रमवर्चक महाश्रमवर्चक द्विवेशमण्डल का गुर्ज्र वैश्वत स्थल है।
३. जैन मण्डल में ८, ४७, १२१; मधुरा मण्डल, २५०२।
४. भगवान कालिकको, वालुकेकी, गौरीमूर्ति (विषुवंशस्त्र); नृजीत गुर्ज्र एवं गुर्ज्रवशस्त्र के दृष्टि (लक्षणस्त्र)।
जैन मंदिर पूर्वी समूह के मंदिरों के अन्तर्गत आते हैं। बण्डई मंदिर के अतिरिक्त खजुराहो के अन्य सभी प्राचीन और नवीन जैन मंदिर एक विशाल किन्तु आधुनिक चहारदीवारी के अन्दर विस्तारित हैं। इस स्थल के नवीन जैन मंदिर भी प्राचीन मंदिरों के प्रज्ञाशक्षायों से ही निर्मित हैं। वर्तमान में इस चहारदीवारी के अन्दर कुल ३२ जैन मंदिर हैं, जिनमें केवल पावनाथ और आदिनाथ मंदिर ही अपने शुल्कांमें हैं।

खजुराहो के जैन मंदिरों में पावनाथ मंदिर प्राचीन और स्वाधिक सुरक्षित है। स्थापत्य-गत योजना एवं पूर्वी बल्लेबाजियों की दृष्टि से भी पावनाथ मंदिर जैन मंदिरों में विशालतम एवं समृद्धिकृत है। पूर्वी मुसल्मान पावनाथ मंदिर के परिसरी प्रशोध में गर्भगृह के पूजाभव से जुड़ा एक स्वतंत्र देवालय भी है, जो इस मंदिर की अभिव्यक्ति किया है। उद्धृतत्व में लक्ष्मण मंदिर (१३०-५० ई') से समाप्त होने वाला पर पावनाथ मंदिर की छाप के शासनकाल के प्रारंभिक दिनों (९५०-१०५०) में निर्मित माना है। पावनाथ मंदिर मूलतः लक्ष्मणनाथ को समर्पित था, जो गर्भगृह को गोमुख-चक्रकुंडी से युक्त मूल प्रतिमा के सिमान्त तथा ललातबिन्दु पर चक्रकुंडी के निर्माण से स्पष्ट है।

पावनाथ मंदिर ब्राह्मण और जैन धर्मों के समन्वय का निर्देशक मूलकृत है। दोनों धर्मों के समन्वय या सहस्रास्त्र का इतना स्पष्ट मूलतं उदाहरण हैं। अन्य किसी मंदिर में नहीं मिलता है। इस मंदिर के उल्लेख भागों पर ब्राह्मण धर्म के वेद-वेदनात्मक तथा काम सम्बन्धी मूर्तियाँ बनी हैं, जो मंदिर के निर्माण में ब्राह्मण प्रभाव की पूरी तरह स्पष्ट करती हैं। विश्व को समर्पित पूर्ववर्ती काल मंदिर का, स्थापत्य और देव-मूर्तियों की दृष्टि से पावनाथ मंदिर पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। दोनों मंदिरों की कृष्णलीला (यमलार्जुन) तथा राम-लीला-हनुमान और बलराम- रेखा की मूर्तियाँ सामान्य विवरणों में वाली है।

पावनाथ मंदिर के विक्रम संवत् १०२१ के लेख में उल्लेख है कि विषय के शासन काल में ही शेष पाहिजे ने जिनानाथ (पावनाथ) का भव्य मंदिर बनवाने उसके लिए प्रभु पूजा कर दीया था। महाराज भंग के गुरु भास्करनाथ भी जैन थे, जिन्होंने निर्मित हो अपने पद के प्रभाव का उपयोग किया होगा। पाहिजे द्वारा पावनाथ मंदिर की सात वाटिकाओं का दान दिया जाने पर भंग ने उनका समान भी किया था। यह चाल जैन धर्म के प्रति विषय के उद्देश्य दृष्टिकोण का प्रकट करती है।

पावनाथ मंदिर के गर्भगृह तथा मंदिर की मूर्तियों के प्रश्नों और आलों में जंगा पर क्षमा, नीचे से ऊपर की ओर छोटी होती गयी मूर्तियों की तीन समानताओं पत्तियाँ हैं। नीचे की

१. कृष्णदेव, "दी टेन्म्यूल आफ खजुराहो इन सेफराउ इश्कुल इश्कुल, पूर्वझवाट इश्कुल, अंक ८६, १९९६, पृ. ५४; लक्ष्मण और पावनाथ मंदिरों पर विषय के शासन काल के विक्रम संवत् १०२१ (१५४ ई.) के दो लेख हैं। इन लेखों की लिखित में नवीन के अतर के कारण पावनाथ मंदिर के लेख को लक्ष्मण अभिलेख की प्रतिलिपि माना जाता है, जिसे लक्ष्मण १००वर बाद लिखा गया।

२. पूर्वझवाट इश्कुल, खजुराहो, अंक १८, पृ. १५५-२६; कृष्णदेव, पूर्वझवाट, पृ. ५५; जाना, इ० तथा उद्देश्य, जै., खजुराहो, हेन्ग, १९९६, पृ. ६।
पंक्ति में प्रक्षेपों पर विभिन्न देवताओं की स्वतंत्रता तथा शक्तिशालित एवं सृजनात्मकता तथा जिनों की लोकतंत्र शक्तिधाति हैं। इनमें अवस्थित मानो, व्यक्ति और इंस्यु एवं श्रद्धा आदि की मूलता हैं। बीच-बीच में आँखों में व्यक्ति की विविधता और व्यक्ति में समानता की लोकतंत्र शक्तिधाति हैं। मूलता तथा स्वतंत्रता की दृष्टि से केवल निखरी दो पंक्ति की मूलता ही महत्त्वपूर्ण हैं। ऊपर की पंक्ति में प्रक्षेपों तथा आँखों में पुष्पास्तर से युक्त विद्वान अवश्य एवं विद्वान अवश्य अमृत अवश्य आदि की लोकतंत्र शक्तिधाति हैं। नीचे की दोनों पंक्तियों की देव-युगल एवं स्वतंत्र देवों की मूलता में देवता सदैव चतुर्दशु के अनुसार उनकी शक्तियां हिंदुस्तान एवं भारत में हैं और दूसरे में दर्शन या पद्धति प्रदर्शित है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न देवताओं के साथ उनकी पारंपरिक शक्तियों, यथा—विष्णु के साथ लक्ष्मी, श्रद्धा के साथ श्रद्धालु एवं शिव के साथ शिवाजी के स्थान पर व्यक्तिगत विशेषताओं से रहित सामान्य लक्षणों वाली शक्तियां निहित हैं। मणंड और गोमुख के जंगल के अंतिक्षित धारणा देवताओं की स्वतंत्र मूलता एवं युगल मूलता मणंड के शिव एवं वरण भाषा पर भी चारों ओर बनी हैं। स्वतंत्र देवात्मिक के केवल शिव, विष्णु एवं श्रद्धा की तथा देव-युगल में शिव, विष्णु एवं श्रद्धा देवता सदैव विवेक में हैं, तथा अन्य भाषाओं की मूलता में इससे लक्षित मुख्य है जो तंत्रित गया है। मणंडल के जंगल और अन्य भाषाओं पर जैन यशो, अमृत एवं चक्षुधारी तथा सर्मस्ताक, रक्षाक, श्रद्धालु आदि की भी मूलता हैं। जिनों तथा चक्षुधारी एवं अमृत यथा भर्ती यथों की मूलता के अवश्य भाषाओं धारणा के संबंध में और प्रमाणित हैं। इन मूलताओं में विष्णु के विशेष अवस्था रूप तथा इसी प्रकार शिव के किसी संहारक या यथार्थीकार स्वतंत्र की मूलता नहीं हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि कलाकार ने धारणा प्रभाव पर किशोर नियंत्रण रखने की भी आदेश की थी। जिलाल एवं सर्थी तथा नवी वाहन वाले शिव एवं श्रद्धा और पशुक युक्त ब्रह्मा के अनुसार यथा वह इत्यादि के प्रयास की यह प्रयास जो मणंडल के विश्वास पर बनाए जा रहा है, जो इस मणंडल के विश्वास में धारणा देव-युगल के रूप भाषा के परिप्रेक्ष्य में प्रायोगिक नहीं है। जो मणंडल का एक भी मूलता नहीं है, बत: उनका यथार्थीकार के यह शिव के तथा नवीन प्रभाव का प्रशासन ही नहीं उठता।

इसी प्रकार पारंपरिक मणंडल पर विष्णु एवं श्रद्धा की कई स्वतंत्र तथा शक्तिशालित युगल मूलताओं हैं। किन्तु ज्ञानराहा की नेनसाना की मूलताओं में श्रद्धा और कुल्ल का निरूपण नहीं हुआ है, जबकि देवगण तथा मथुरा के दिल्ली स्थानों पर नेमी ने मूलताओं में इसका अंकन हुआ है। तात्पर्य यह है कि पारंपरिक मणंडल की विष्णु तथा श्रद्धा की मूलता धारणा मन्डलों के अनुकूल रूप से बनी। यदि ये मणंडल के अनुकूल बनी होती तो नेमी ने मूलताओं में भी उसका निरूपण ही अंकन हुआ होता। इसी सन्दर्भ में एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि देवताओं का अपनी शक्तियों के साथ आश्वासन मुख्य में निरूपण भी पूरी तरह जैन परमपरा के लिखित है। जैन परमপरा में कहीं भी कोई देवता अपनी शक्ति के साथ अभिलक्षित नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में  

1. विष्णु के लिए दक्षत्व, बुन, क्षमा, “दि फिम आई ओ लोहर स्रिस्वप्न बान दि पारंपरिक देवमुख एंटी खजुराहो”, भाषार यो विजय भाषास्तुर स्वाभाविक प्रभा, वर्ष, १९५६, पृ. ३६-३८।
ब्राह्मण का पार्श्वनाथ मंदिर : ब्राह्मण एवं जैन धर्म के समन्वय का मूलभूत है। यह तथ्य भी मन्दिर की मूर्तियों के ब्राह्मण देव-परिवार से समन्वित होने का ही समर्थक है।

पार्श्वनाथ मंदिर की अपसरा मूर्तियां खजुराहो मंदिरों में सबसे ज्यादा मानी जाती हैं। इनमें नारी सौन्दर्य पूरी सतह साकार हो उठाया है। अपसरा मूर्तियों में तीनी भगिनाओं के माध्यम से शारीरिक आकर्षण और मानसिकता की जो अभ्यंतरीक हुई है, जैन धर्म उसको भी सृजनात्मक नहीं करता। अपसरा मूर्तियों के अंतिम मंदिर पर कामकाज से रत सुगलों की चार मूर्तियाँ हैं। इनमें श्री-पुष्कर युगलों को निर्विशेष और प्राकृत आकृति तथा सम्बन्धों की स्थिति में दिखाया गया है।

गभूत की दीक्षित मिति पर वस्तुधारी एक स्त्री पुरुष युगल की प्राकृत में आकृतिबद्ध वृत्तियों भी हैं। वर्तमान पार्श्वनाथ मंदिर की काम-मूर्तियां खजुराहो के लक्षण, कल्याणिक महादेव, हिरालाहे एवं विवर्तनाथ मंदिरों की तुलना में बिलुली ही उद्धृतम नहीं हैं किंतु इस प्रकार का शिल्पकला निकलता ही ब्राह्मण मंदिरों के प्रभाव का प्रतीक नहीं है। पार्श्वनाथ मंदिर के शिल्पकला में जड़ें ब्राह्मण प्रभाव पूरी तरह मूल है वहीं आदिनाथ मंदिर इस प्रभाव से पूरी तरह मुक्त है।

पार्श्वनाथ मंदिर के भित्ति एवं अन्य भागों की स्वतन्त्र एवं देव युगल मूर्तियों में पद के विविध रूपों तथा तरीके और बीजपुरक का सामान्य स्वरूप से प्रदशन हुआ है। गभूत की भित्ति द्वारा कोणाओं की विकासपूर्वक मूर्तियों के ऊपर चित्र की आठ मूर्तियाँ बनी हैं। इनमें जटामुकुट, बनमाला और उपवेदने शोभित चन्द्रमुख चित्र निजिंग में हैं और उनके साथ वरदाशित, निश्चित, सर्प और कमण्डल है। समीप ही बाहर नन्दों भी उल्लिखित है। मण्डप की भित्ति पर थो चित्र की इन्हीं विशेषताओं वाली चन्द्रमुख मूर्तियाँ हैं। पूरे भित्ति की एक मूर्ति में चित्र अपसारपुष्कर पर खड़े हैं और उनके करों में अभयमुद्रा, निश्चित, नकारात्मक पद तथा कमण्डल हैं। मण्डप की अन्य मूर्तियों में नन्दवाहन वालों चित्र जटामुकुट से शोभित हैं और उनके दो करों में पद और गंगा दो में निश्चित। सर्प, कमण्डल या बीजपुरक में से कोई दो प्रदशित हैं। एक उदाहरण में चित्र के हाथों में अभयमुद्रा, गदा, सर्प और कमण्डल भी प्रदशित है। ये मूर्तियाँ क्रियाभासात्मक और चित्र के पारंपरिक सम्बन्ध को प्रकट करती हैं।

विष्णु की स्वतन्त्र मूर्तियाँ केवल मण्डप की भित्ति पर ही हैं। इनमें चन्द्रमुखविष्णु के साथ बाहर नहीं दिखाया गया है। उनके दाहिने में गदा, शंख, चक्र, भुजु, पद आदि प्रदशित हैं। अध्यक्षात्मक विष्णु की एक हाथ गदा पर टेककर आराम करने की मुद्रा में दिखाया गया है। कुछ उदाहरण में पदरुप, बीजपुरक तथा अभयमुद्रा भी दिखाई गयी है।

**1.** तात्कालिक प्रभाव एवं अन्य धर्मों तथा उन्हें समर्थित कलावस्तुओं पर काम सम्बन्धी अंकनों की विब्रेश्य लोकप्रियता के कारण ही सम्मान: जैनों ने भी इस प्रकार के मूर्त्त अंकनों की प्रारंभिकता का अनुभव किया होगा। यह बताता है कि हरिवंशपुराण ( ७८२ ई.) के एक सन्ध्या से भी संग है ( २९.१०५ )। हरिवंशपुराण ( जिनेनकुल ) में एक स्थान पर उल्लेख है कि सेतु कामदेव ने प्राण के कोटुक के लिए एक जन मंदिर में कामदेव और रति की मूर्तियाँ भी बनवाई। कामदेव और रति को देखने के कोटुक के जगत के लोग जिन मंदिर में आते थे, और इस प्रकार कौशलकार आए हुए लोगों को जन धर्म का प्राप्ति होती थी। यह जिनमात्र कामदेव मंदिर के नाम से ही प्रसिद्ध था।
मण्डप की भित्ति, खिलार एवं अन्य भागों पर विष्णु-लक्ष्मी तथा शिव-पार्वती (२५ से अधिक) की सवारिक मूर्तियाँ हैं। इसमें शिव-पार्वती या तो चिलंग में हैं या फिर ललितमुद्रा में। शिव-पार्वती की मूर्तियों में शिव का एक हाथ कट्टर पर है और दो में पत्थर और सर्प हैं। एक हाथ आलिङ्गमुद्रा में है। बाइम पार्वती की देवी का दानिना हाथ आलिङ्गमुद्रा में है तथा बायें में नौर-पूरक (या दर्पण) है। कभी-कभी शिव के दो हाथों में से एक में फल और दूसरे में पत्थर भी प्रदर्शित है। लक्ष्मी-नारायण मूर्तियों में, जिसका एक मनोजू उदाहरण दशक्षी भित्ति पर है, विष्णु किरोट-मुक्त से शोभित हैं और उनके तीन हाथों में पत्थर, शव और चंक प्रदर्शित हैं, एक हाथ आलिङ्गमुद्रा में है। कभी-कभी विष्णु को गदा पर एक हाथ टेककर आराम करते हुये भी दिखाया गया है। ऐसी मूर्तियों में अन्य हाथों में शव और सर्प (या फल या पत्थर) हैं। बाइम पार्वती की लक्ष्मी आकृति का दाहिना हाथ सदा आलिङ्गमुद्रा में है और बायें में पदम है।

विष्णु और शिव के अतिरिक्त मंदिर पर ब्रह्मा की माता स्वतंत्र और युगल मूर्तियों है। मंदिर को जड़ा पर श्रमिक युक्त ब्रह्मा की एक स्वतंत्र मूर्ति है। ब्रह्मा के दो में वरदाक्ष, लुक, पुस्तक और कमण्डल प्रदर्शित हैं। यहाँ ब्रह्मा के तीन ग्रह न हो उभर दिखाया गया है और न ही ब्रह्मा विमुख हैं। उत्तरी भित्ति पर ब्रह्मा का शक्तिवाहित मूर्ति है। ब्रह्मा यहाँ तीन मुखों वाले, प्लायर और लयुक्त युक्त है। उनके दो हाथों में शव और पुस्तक हैं जबकि शेष दो हाथों में से एक कट पर है और दूसरा आलिङ्गमुद्रा में है। यहाँ शक्ति के ब्रह्माके दाहिने पार्वती में दिखाया गया है। देवी की बायें मुखा चक्रवार्तामुद्रा में है जबकि दायें में चक्रकार पदम है।

जल्द पर बलराम-रेखा, कुबेर-कौरको, ओहं-ओयं, राम-सीता, काम-रति एवं समयमि (?), ब्रह्मा-कौरको, ओहं-ओयं, राम-सीता, काम-रति एवं समयमि (?)) की भी मूर्तियाँ हैं। दशकुण्डा की संस्कृति के साथ संबंधित के छत्रवारी रूपों मुक्त से शोभित बलराम की मूर्ति में दो करों में चंक और हृदय हैं। एक दाहिना हाथ आलिङ्गमुद्रा में है तथा बायें में मुख कट पर है। यहाँ भी शक्ति दक्षिण पार्वती में ही बहु है। शक्ति के दाहिने हाथ में मुखा पदम है जबकि दायें में आलिङ्गमुद्रा में है। दक्षिणी भित्ति पर ही कुबेर की भी शक्तिवाहित मूर्ति है। कुबेर की एक दक्षिण मुखा आलिङ्ग में है और दो में वरदाक्ष एवं चक्रकार पदम हैं। चोरी मुखा गदा पर आराम कर रही है। दक्षिण पार्वती की कौरको की मूर्ति में दाहिने हाथ में चक्रकार पदम है, जबकि दायें में आलिङ्गमुद्रा में है। उत्तरी भित्ति की राम-सीता मूर्ति में किरोट मुक्त तथा छठबार भी सजित राम के दो हाथों में से पत्थर भी प्रदर्शित है। राम के उद्धर्व ब्रह्मा भुजा आलिङ्गमुद्रा में हैं जबकि नीचे का दाहिना हाथ पार्वतमुद्रा में दक्षिण पार्वती में है। किरोट मुक्त में है। राम की मुखा हाथ में निवियय और दाहिने हाथ आलिङ्गमुद्रा में हैं। इस मूर्ति के ऊपर ही सम्बन्ध है। राम द्वारा सीता से मिलते हुए ब्रह्मा से प्रसन्न राम को चंकित इसकी भित्ति बनाते हुए दिखाया गया है। पार्वतिकार मंदिर के दक्षिण शिरक पर उल्लिखित रामायण के एक अन्य कथा दृश्य का उल्लेख भी यहाँ मार्गनिक है। अशोकवातिका से सम्बन्धित दृश्य में कलात्मक सीता को खड़े घरारी अनुष्ठाव मूर्तियों से दिखाई दिखाया गया है। सीता के समक्ष ही किरोट मुक्त हुमान का आकृति बनी है जिन्हें सीता को राम की मुखा देते हुए दिखाया गया है। त्रयोदश पवनचरित्र (विमलमूर्तिक) में रामकथा का विस्तृत उल्लेख है।
चित्त १
दक्षिणी मूर्ति (वल्लराम-रावती, शिव), पार्वेंद्राथ मंदिर, खजुराहो
चित्र २
विष्णु-लक्ष्मी (आलिंगन मूर्ति) दंक्षणी भित्ति
पार्श्वनाथ मंदिर, खजुराहो
(चित्र अमेरिकन इंस्ट्रिट्यूट ऑव स्टडीज, वाराणसी के सौजन्य से)

चित्र ३
राम-सीता (आलिंगन मूर्ति) उत्तरी
भित्ति, पार्श्वनाथ मंदिर खजुराहो
(चित्र अमेरिकन इंस्ट्रिट्यूट ऑव स्टडीज, वाराणसी के सौजन्य से)
प्राप्ति में अशोकबांटिका से सम्बन्धित दृश्य की भी चर्चा मिलती है (वसुचंद्रिय ५३११). अर्थात् मण्डप और मण्डप पर वर्णका के उपर हिमजुल राम की कई छोटी मूर्तियाँ भी हैं। इनमें राम के दोनों हाथों में एक लम्बा शर दिखाया गया है।

मण्डप की उत्तरी भित्ति पर ही अर्थ की भी वाक्यसहित एक मूर्ति है। अर्थात् सम्भव युक्त है और उनके दीन हाथों में धनुकार्पण, दण्ड और डिखाया तथा एक हाथ आलिंगनमुद्रा में है। शक्ति की दाहिनी भुजा आलिंगनमुद्रा में है, जबकि बायें में चकाकार पदा है। काम और रति की भी दो नुभा मूर्तियाँ हैं, जो क्रमशः पूर्व और उत्तर की मितियों पर हैं। पूर्वी भित्ति की मूर्ति में शम्भु और जटामुक्त से शोभित काम के दो हाथों में पंचचार एवं हृदय-चन्द्र है, जबकि श्यो माहें दो हाथों में से एक व्यास्नामुद्रा में है और दूसरा आलिंगनमुद्रा में है। उत्तरी भित्ति की मूर्ति में काम-दाही मूव्हा से रचित तथा किरोट मुक्त से सजित है। उनके दो हाथों में पूर्ववाच पंचचार (मानव मुख) और हृदय-चन्द्र हैं, तथापि एक हाथ आलिंगन मुद्रा में है। केवल व्यास्नामुद्रा के स्थान पर एक हाथ में पद-कलक्षा प्रदर्शित है। दोनों ही उदाहरणों में रति बायें पाषंत में लखी है और उनका दाहिना हाथ आलिंगनमुद्रा में है जबकि बायें में पुत्रक (आ पदा) प्रदर्शित है।

उत्तरी भित्ति पर ही एक ऐसी युगल मूर्ति भी है जिसकी सम्बन्धित पद्धत वन-वन्मुक्त से की जा सकती है। जटामुक्त की दाहिनी भुजा से युक्त देवता के दो हाथों में लद्वांग और पताका है जबकि श्यो हाथों में से एक में व्यास्नामुद्रा और दूसरा आलिंगनमुद्रा है। शक्ति की दाहिना हाथ आलिंगनमुद्रा है और बायें में पदा है।

देव युगल आकृतियों के अतिरिक्त दंतविक्रिया के जंगा तथा अन्य भागों पर सामान्य स्थि-पुर्व युगलों की भी सीमातियाँ हैं। ये मूर्तियाँ अधिकांशतः आलिंगनमुद्रा में हैं। इनमें स्त्री की दाहिना हाथ देवता आलिंगन मुद्रा में है और बायें में वर्ण (या पन) प्रदर्शित है। कभी-कभी इन युगलों को वालिलाप की मुद्रा में भी दिखाया गया है। इन मूर्तियों में आकृतियाँ विभिन्न रूपों और वस्त्राः-भूषणों वाली हैं, जो समाज के विभिन्न वर्गों एवं लोकों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनमें कभी-कभी श्री की चुंबन की स्तिथि में या चुंबन के लिए पुरुष के समस्त अवते हुए और पुरुष को स्त्री का हाथ पकड़ कर अपनी ओर बीचारे हुए या उसके पुजोंकेर का स्पर्श करते हुए दिखाया गया है। ये आकृतियाँ विनाश न होकर पूरी तरह वस्त्र सजित हैं। कुछ उदाहरणों में सामान ही किसी आकृति को निर्कल्प होकर पूरी तरह वस्त्र सजित करने वाला हुकुम वाला वापस पीछे जाते हुए भी दिखाया गया है। पूरी जांच के एक दृश्य में यह भाव पूरी तरह स्पष्ट है। दृश्य में शम्भु तथा जटामुक्त से शोभित किंपी ब्राह्मण साधु के दोनों और दो सिंहों लखी है। इसमें से एक ने साधु की दाही और दूसरे ने उसकी जड़ों को पकड़ रखा है। यह दृश्य लिथिय ही स्त्रियों द्वारा साधु को उसके नियत क्रय पर दष्टिनैतिक करने के संबंधित है।

रीहर, कला इतिहास विभाग,
काशी हिन्दू विज्ञानविद्यालय, वाराणसी-२२१००५